श्री-जैन-आत्मानंद-ग्रन्थरत्नमाला-चतुःसप्ततितमं रत्नम् (७४)



जैन-मेघदूतम्।

प्रकाशयित्री

भावनगरस्था-श्रीजैनआत्मानन्दसभा।

अञ्चलगच्छीय-श्रीमेरुतुङ्गाचार्यविरचितं

जैन-मेघदूतम् ।

श्रीशीलरत्नसूरिविरचितविवरणोपेतं

सपादकः सशोधकश्च

प्रवर्तकपादसेवाहेवाकश्चतुरविजयो मुनिः ।

प्रकाशयित्री

भावनगरस्था-श्रीजैनआत्मानन्दसभा ।

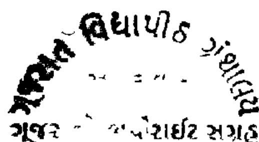
मुम्बय्यां

निर्णयसागरमुद्रणालये मुद्रितम् ।

वीरसवत्-२४५०, विक्रमसवत्-१

आत्मसंवत्-२८, इसवीसन-१९२४

मूल्यं रूप्यकद्वयम् (२)



Published by Vallabhadas Tribhuwandas Gandhi, Secretary
Jain Atmanand Sabha, Bhavnagar

Printed by Ramchandra Yesu Shedge, at the Nirnaya sagar
Press, 23 Kolbhat Lane, Bombay.

प्रस्तावना.

मेघदूतना अनुकरणो

मनुष्यनो स्वभाव गतानुगतिक छे जे कार्यथी माणसनी कीर्ति गवाय छे, ते कार्यनु अनुकरण करवा अन्य माणसो आकर्षाय छे जेम व्यवहारमा कोइ पण माणस जे व्यवसायथी अर्थलाभ, कीर्तिलाभ प्राप्त करी शके छे ते ज व्यवसायमा लक्ष्मीनिवास छे एम समजी बीजा माणसो ते रस्ते दोराय छे परतु अनुकरण ते अनुकरण ज रहे छे पूरी प्रतिभा विना मूळ स्थान प्राप्त थतु नथी साहित्यमा पण आ प्रमाणे ज बन्यु छे जे कविनी जे कृतिथी कीर्तिकथा फेलाइ, ते कृतिनु अनुकरण अनेक कविओए भिन्न भिन्न रीते कर्यु छे परतु अत्यार सुधीमा एवो एक पण कवि नथी जन्म्यो के जे मूलकर्तानी समान के तेथी वधारे कीर्ति खाटी गयो होय जेम जैन कविओमा श्री**सिद्धसेन** दिवाकरना **कल्याणमंदिर**थी अने श्री**मान-तुंग**सूरिना **भक्तामर**स्तोत्रथी अनेक विद्वानो दिग्मूढ बनी तेमनु अनु-करण करी कइक कविओए ते स्तोत्रनु आदि या अतनु पाद लेइ पादपूर्तिओ रूपे अनेक स्तोत्रो रच्या छे तो पण ते स्तोत्रोनी प्रसन्नता, गभीरता, कर्णप्रियता के सरलता न ज आवी शक्या आ ज प्रमाणे **सिंदूरप्रकर**ना अनुकरण रूपे अनेक कविओए तेवा प्रकरोने जन्म आप्यो पण ते सरळता, ते भाव, ते प्रसाद न ज लावी शक्या आ ज प्रमाणे जैनेतर कविओमा **जयदेव**ना **गीतगोविंद**नी मोहनीमा मूढ बनी घणा कविओए विविध गीतो बनाव्या, कवि **अमरु**ना शतक पाछळ तणाइ अनेक कविओए अनेक शतको बनाव्या परतु मूळकर्ता-ओना स्थाननी योग्यता तेओ न बतावी शक्या आ ज प्रमाणे कविकुल-शिरोमणी **कालिदास**ना **मेघदूत**ना रसना, सौदर्यना अनेक भोगीओ अनुकरण करी अनेक दूतकाव्योने पोतानी पाछळ मूकता गया छे

कालिदासना मेघदूतना जेवा संदेशकाव्यो संस्कृतसाहित्यसृष्टिमा अनेक कविओनी कृतिरूपे भिन्न भिन्न नामे आविर्भूत थया छे आधु-निक भाषाओने बाद करी केवळ संस्कृत भाषामा ज आवा काव्योनी संख्या गणवा जइए तो पचीसथी पण वधारे मळी आवे छे परंतु ते सर्वे दूतकाव्योमा **मेघदूतना** जेवी छटा आवी शकी नथी अने तेथी ते सर्वे काव्यो **मेघदूतना** जेवी कीर्ति, स्थान के दीर्घायु मेळवी शक्या नथी **मेघदूतना** भक्तोना जेटली संख्या कोइ पण दूतकाव्यनी मळती नथी आ **मेघदूतना** अनुकरणमा सौथी प्रथम अनुकरण करनार जैनो छे आम अनुकरणरूपे संस्कृत साहित्यमा जैन कविओद्वारा केटलाए संदेशकाव्यो जन्म पाम्या छे तेनु उपलक दृष्टिए पण अव लोकन करवु आवश्यक छे

संदेशकाव्यकारतरीके जैन कविओ

(१) **पार्श्वाभ्युदय–जिनसेना**चार्यकृत (२) **पवनदूत–वादिचंद्र**कृत (३) **जैनमेघदूत–मेरुतुंगा**चार्यकृत (४) **चंद्रदूत–जंबूकवि**कृत (५) **नेमिदूत–सांगणसुतविक्रम**कृत (६) **मनोदूत**–नामविनानु (७) **मेघदूत**–मंत्री **विक्रम**कृत (८) **शीलदूत–चारित्रसुंदर**-गणिकृत (९) **चेतोदूत**–नामविनानु (१०) **मेघदूतसमस्यालेख–मेघविजयो**पाध्यायकृत (११) **इंदुदूत–विनयविजय**गणिकृत आथी पण अधिक होवानो संभव छे परंतु जाणवामा आव्या नथी आमाना घणाखरा काव्यो प्रकट थया छे तेमाना जे मने मळी आव्या छे तेमनो थोडो थोडो परिचय आपवो उचित धार्यो छे

पार्श्वाभ्युदय

आ बधा अनुकरणोमा प्रथम **पार्श्वाभ्युदय** छे आ ३६४ मन्दाक्रान्ता वृत्तोनु एक खंडकाव्य छे **जिनसेनाचार्ये**, **कालिदासना मेघदूतना** जेटला श्लोको छे ते सर्वे एक अथवा बे चरणो लइने पोताना **पार्श्वाभ्युदयना** दरेक श्लोकमा ग्रथित कर्या छे आज सूधी **कालिदासना मेघदूतनी** समस्यापूर्ति दरेक कविए तेनु अंतिम चरण लइने

करी छे, पण आ काव्यमा तो संपूर्ण **मेघदूत**ने स्थान मळ्यु छे, एटली आ काव्यनी विशेषता छे आ काव्यनी केटलाक वाचको प्रशंसा करे छे त्यारे केटलाक वाचको तेनी सरळता माटे मान दर्शावे छे स्व **किलाभाइ** पोताना **मेघदूतना अनुवाद**नी प्रस्तावनामा लखे छे के—"**पार्श्वाभ्युदय**नी रचना कइक क्लिष्ट अने बहुधा जैन लेखकोना जेवा ज गुणवाळी छे **कालिदासना मेघदूत** करता पण पोतानु काव्य कइक वधारे गुणवाळु छे, एवु मिथ्याभिमान **जिनसेन**ने हतु एम जणाय छे ए काव्यनी वाणी कर्कश अने रस विनानी छे " त्यारे **प्रो. के. बी. पाठक "कुमारिलभट्ट अने भर्तृहरी"** नामना पोताना निबंधमा **जिनसेन**स्वामीना विषयमा लखे छे के—"**जिनसेन अमोघवर्ष** (पहेला) ना राज्यकाळमा थया हता एम पोते पोताना **पार्श्वाभ्युदय**मा लखे छे **पार्श्वाभ्युदय** संस्कृत साहित्यमा एक कौतुकजनक उत्कृष्ट रचना छे आ ते समयना साहित्यस्वादनु उत्पादक अने दर्पणरूप अनुपम काव्य छे जो के सर्वसाधारणनी सम्मतिथी भारतीय कविओए **कालिदास**ने पहेलु स्थान आप्यु छे, तो पण **जिनसेन मेघदूत**ना कर्तानी अपेक्षा अधिकतर योग्य मानी लेवाने अधिकारी छे" **प्रथम अभिप्राय जातीय अभिमाननो पडघो छे त्यारे बीजो अभिप्राय व्याजबी तुलनानुं परिणाम छे.** तेनी योग्यता केवी छे ते नीचेना उदाहरणरूपे आपेला श्लोको उपरथी पाठके वाची लेवी जोइए—

चित्र तन्मे यदुपयमनानन्तर विप्रयुक्ता
त्वत्त· साध्वी सुरतरसिका सा तदा जीवति स्म ।
मन्ये रक्षत्यसुनिरसनाद्धातुमापद्गताना-
"माशाबन्ध कुसुमसदृश प्रायशो ह्यङ्गनानाम्" ॥ ३५॥

× × × ×

तीव्रावस्थे तपति मदने पुष्पबाणैर्मदङ्ग
तल्पेऽनल्प दहति च मुहु· पुष्पभेदै· प्रक्लृप्ते ।

तीव्रापाया त्वदुपगमन स्वप्नमात्रेऽपि नाप
"क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गम नौ कृतान्त·" ॥ ४ ॥
सर्ग ४

× × × × ×

"तत्र व्यक्त दृशदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौले–"
रर्च्यं भर्तुस्त्रिभुवनगुरोरर्हत सत्सपर्यं ।
"शश्वत्सिद्धैरुपहृतबलिं भक्तिनम्र. परीया"
पापापाये प्रथममुदित कारण भक्तिरेव ॥ ६५ ॥

× × × × ×

इति विरचितमेतत्काव्यमावेष्ट्य मेघ
बहुगुणमपदोष कालिदासस्य काव्यम् ।
मलिनितपरकाव्य तिष्ठतादा शशाङ्क
भुवनमवतु देवस्सर्वदाऽ**मोघवर्षः** ॥

जिनसेने आ काव्यमा पार्श्वनाथना चरितने गुथ्यु छे **जिनसेने** प्रथम **जैनहरिवशपुराण** शाके ७०५ मा लख्यु अने आठमा सैकाना उत्तरार्धमा **पार्श्वाभ्युदय** लख्यु एम मानवामा आवे छे

पवनदूत

आ काव्यना कर्त्ता श्री**वादिचंद्र** छे आमना विषे वधारे जाणवामा आव्यु नथी आ काव्य १०१ श्लोक पर्यंत छे अने निर्णयसागरनी ग्रथमालामा प्रगट थयु छे (काव्यमाला गु १३) जैन ग्रथावलीना अवलोकनथी जणाय छे के, श्वेतांबरसप्रदायमा ए नामना कोइ साधु थया नथी पण तेमा दिगबरसप्रदायमा **ज्ञानसूर्योदय** नामक नाटकना कर्त्ता तरीकेनी नोध छे (पृ० ३३६) कदाचित् आ काव्यनी रचना ते सूरिनी होय आ काव्यमा जो के स्पष्ट **कालिदासना मेघदूत**नी छाया छे, परतु आ काव्य मेघदूतनी समस्यापूर्त्ति नहीं होता स्वतत्र कृति छे अने तेनी रचना अति प्रासादिक छे जिज्ञासुए निर्णयसागर काव्यमालागुच्छक १३ मो वाचवो जोइए

आ काव्य **खंभात**निवासी **सांगण**ना पुत्र **विक्रम** कविए रच्यु छे आ कविना जीवनविषे वधारे जाणवामा आव्यु नथी परतु एटलु तो निश्चय पणे कही शकाय छे के, कवि **ऋषभदास**, प्रख्यात गुर्जर भाषामा अत्युत्तम रासाओ रची जेणे कविओमा सारु स्थान प्राप्त कर्यु छे[1], तेमना आ कवि भाइ थाय छे बन्ने कविओना काव्योनी प्रशस्तिउपरथी उक्त बाबत स्पष्ट जाणी शकाय छे आ कविनी आ एक **नेमिदूत**सिवाय अन्य कृति होय एम हजु जणायु नथी.

नेमिदूत

कविए **मेघदूत**ना दरेक काव्यनु अतिम चरण लइ, अन्य त्रण चरणो पोते रची आ काव्यनी रचना करी छे आ काव्यना सबधमा स्व **किलाभाइ** पोताना **मेघदूतना अनुवाद**नी प्रस्तावनामा लखे छे[2] के--"आनी भाषा, विचार अने पद्यरचना वगेरे सारा छे अने काव्यना गुणोमा पार्श्वाभ्युदय करता ए कइक चढियातु छे" आ कविए काव्यमा अप्रासगिक बिलकुल कर्यु नथी शरुआतना श्लोकथी वियोगी राजीमती पोतानु दर्द मेघद्वारा नेमिनाथने कहावे छे वस्तु बीज एटलु बधु प्रख्यात छे के, तेना वर्णनमा कवि उतर्या नथी परतु कविए काव्यमा विरही जनोनी यथार्थ दु खित अवस्थानु जे वर्णन करेलु छे ते वाचवाथी वाचकने तुरत समजाशे के कवि सर्वानुभवी छे आ १२५ श्लोकनु दूतकाव्य नायक प्रत्ये विरहिणी नायिकाना उपालभोथी भरेलु छे पाठक श्लोके श्लोके राजीमतिनी दु खित अवस्थामा तन्मय बनी ते दु ख पोते अनुभवतो जणाय छे अहीं ज कविनी निपुणता छे के वाचक पोतानी स्थिति भूली काव्यनी स्थितिमा परिणत थाय कविनी लालित्यपदपूर्ण कृतिना केटलाक श्लोको उदाहरणरूपे आपवा उचित समजीए छीए,

प्राणित्राणप्रवणहृदयो बन्धुवर्ग समग्र
हित्वा भोगान् सहपरिजनैरुग्रसेनात्मजा च ।

१--जुओ जैन कोन्फरन्स हेरल्डना ऐतिहासिक अकमा रा मोहनलाल द. देशाइनो "श्रावक कवि ऋषभदास" नामनो लेख

२-- जुओ ते पुस्तकनु पृ ८

श्रीमान्नेमिर्विषयविमुखो मोक्षकामश्चकार
    स्निग्धच्छायातरुषु वसति रामगिर्याश्रमेषु ॥ १ ॥
सा तत्रोच्चै. शिखरिणि समासीनमेन मुनीश
    नासान्यस्तानिमिषनयन ध्याननिर्धूतदोषम् ।
योगासक्त सजलजलदश्यामल राजपुत्री
    वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीय ददर्श ॥ ५ ॥

× × × × ×

तुङ्ग शृङ्ग परिहर गिरेरेहि याव' पुरीं स्वा
    रत्नश्रेणीरचितभवनद्योतिताशान्तरालाम् ।
शोभासाम्य कलयति मनाङ् नालका नाथ यस्या
    बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥ ७ ॥

× × × × ×

रम्या हर्म्यै क तव नगरी दुर्गशृङ्ग क चाद्रि
    कैतत्काम्य तव मृदु वपु क व्रत दु'खचर्यम् ।
चित्तग्राह्य हितमिति वचो मन्यसे चेन्ममाल
    किञ्चित्पश्चाद्व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥ १६ ॥

× × × × ×

प्रावृट्प्रान्त प्रियतमगता दुर्दशा दु खदेव
    प्रायोऽन्योन्यै रतिकरमित साप्रत सङ्गमाय ।
भोगानेकोत्सवसुखसुखानिच्छया मन्दिरे स्वे
    निर्वेक्ष्यात्र परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥ ११८ ॥
गत्वा शीघ्र स्वपुरमनुज प्राप्य राज्य त्रिलोक्या.
    कीर्ति शुद्धा वितनु सुहृदा पूरयाशा च पित्रो ।
राजीमत्या सह नवघनस्येव वर्षासु भूयो
    मा भूदेव क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोग. ॥ १२३ ॥

× × × × ×

तद्दुःखार्थ प्रवर कवितु' कालिदासस्य काव्या-
    दन्त्य पाद सुपदरचितान्मेघदूताद्गृहीत्वा ।

श्रीमन्नेमेश्चरितविशद साङ्गणस्याङ्गजन्मा
चक्रे काव्य बुधजनमन प्रीतये विक्रमाख्य ॥ १२६ ॥

नेमिदूतं समाप्तम् ॥

उपरना काव्यकारनी पेठे आ काव्यना कर्ताए पण **मेघदूतनु** अतिम चरण लेइ, बाकीना त्रण चरणो पोते रचेला छे आ सदेशकाव्यनी वस्तुकथाथी जैन समाजमा भाग्ये ज कोइ अपरिचित हशे मनुष्यो

शीलदूत

जे वृत्तिना दास बनीने पोतानु जीवन निरर्थक गुमावी बेसे छे, अनत भूतकाळथी लइ अनत भविष्यकाळना जगतने दृष्टिसमक्ष करी अवलोकन करवामा आवे तो जणाशे के ए पशुवृत्तिनो पराजय करनारा मनुष्यो बहु अल्प सख्यामा मळी आवशे ते वृत्ति–विषयवृत्ति--उपर जय मेळवनार प्रख्यात स्थूलभद्रनु विशद चरित्र आलेखवामा आव्यु छे

स्थूलभद्र जगतना व्यवहारथी विमुख थइ, शिशुवयथी कोशानी साथे विषयविलासमा केटलुय जीवन व्यतीत थया बाद, अचानक राज्यप्रपचोमा पोताना पितानु मृत्यु थयु एम साभळे छे, जे कुटुब अने जनतामा अळखामणो थई पडेल अने जेना उच्च जीवन माटे कोइने आशा न हती, ते स्थूलभद्रना हृदयमा एकाएक जगतनी प्रापचिक जजाळोना प्रतिबिंबो पडे छे, अने तेथी जीवननी दिशाने बदली नाखवानु आदोलन उत्पन्न थाय छे जे वीर जेटला वेगथी विषयरसमा रच्यो पच्यो रहेतो हतो, ते वीर तेटला ज वेगथी तेने तिलाजली आपी आत्माना कल्याणार्थे भद्रबाहुस्वामी पासे जाय छे त्या पोताना जीवननु व्हेण बदली नाखी, पूर्वपरिचित कोशाने विशुद्ध मार्गे चडाववा माटे पुन त्या पधारे छे कोशा स्थूलभद्रने आवो शुष्कमार्ग ग्रहण करवामाटे ठपको आपे छे, अने आवा कठोर व्रतनो त्याग करी पुन पूर्व दशामा आववा माटे विनति करे छे जवाबमा स्थूलभद्र जणावे छे— भोळी आपणा आत्माना अविकासनी ए आपणी दशा हती जो शाश्वत सुखनी वाछना होय तो आवा अल्पसमयी

सुखोने छोडी देवा जोइए कोशाने पोतानी अज्ञानतानु भान थाय छे अने स्थूलभद्रना मार्गनु अवलबन करे छे. कविए काव्यनी शरुआत साधुदशामा स्थूलभद्र कोशाने घेर आवे छे, त्याथी करी छे पछी नायकनायिकानो परस्पर सवाद चितरी काव्यनी पूर्णाहुती कोशा स्थूलभद्रना मार्गने अनुसरे छे, त्या थाय छे

काव्यकार **चारित्रसुंदर** गणी तेमनी केटलीक कृतिओथी जन-समाजमा सारी रीते परिचित छे तेमनी कृतिओ पैकी श्रीकुमारपाल महाकाव्य, श्रीमहीपालचरित्र अने आचारोपदेश आदि सुप्रसिद्ध छे तेमना विषे विशेष लखवु ते विषयातर गणाय आ स्थळे वाचकोना विनोदनेमाटे **शीलदूत**ना केटलाक श्लोको आपवा ठीक समजु छु

भुक्त्वा भोगान् सुभगतिलक कोशया सार्द्धमिद्धान्
धन्यो मान्यो निखिलविदुषा भद्रया स्थूलभद्र ।
चक्रे श्रुत्वा जनकनिधन जातसवेगरङ्ग
स्निग्धच्छायातरुषु वसति रामगिर्याश्रमेषु ॥ १ ॥

चित्ते मत्वा विषयनिचय सत्वर गत्वर वै
गच्छन्नेषोऽध्वनि घनजिनध्यानमलीनचित्त ।
शान्त कान्त रसमिव गिरौ श्रीगुरु भद्रबाहु
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीय ददर्श ॥ २ ॥

कामान्धोऽह तदिह बहुधा कर्ममोहादकार्षम्
जानात्यन्यो न हि जिनपतेर्यद्विपाक मुनीश ! ।
यावज्जैनी वचनरचना वा न विन्दन्ति तावत्
कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाऽचेतनेषु ॥ ५ ॥

× × × × ×

स्वामिन्नङ्गीकुरु परिचित स्वाधिकार पुनस्त्व
भोगान् भुङ्क्ष्व प्रिय ! सह मया साधुवेष विहाय ।
दोलाकेलि किल कलयत कौतुकात् काननान्त
सम्पत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहसा सहाया ॥ ११ ॥

× × × × ×

हीन दीन सुभग ! विरहात् ते धुताऽऽहारनीरं
पश्येद मे वपुरुपचितिं याति नान्यै प्रयोगै ।
जाने नाह बहु निगदितु त्वद्वियोगार्त्तिजात
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥ ३१ ॥

× × × × ×

नीराग मे समजनि मनो ज्ञाततत्त्वस्वरूप
तेनेदानी न विषयरसो बाधते कुत्रचिन्माम् ।
पश्याम्येनामपि वनसमा चित्रशाला खलूच्चै-
र्यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठ सुहृद्व ॥ ८६ ॥

× × × × ×

अज्ञान मे सपदि गलित मोहमूर्च्छाऽप्यनेश-
ज्जात चित्त सुतनु ! मम तन्निर्विकार क्षणेन ।
स्वस्रा मृत्योरिव हि जरसा ग्रस्यमान तनु स्वा
मन्ये जाता तुहिनमथिता पद्मिनी वाऽन्यरूपाम् ॥९०॥

× × × × ×

भद्रे ! भद्र भवतु सतत ते जिनेन्द्रप्रसादाद्
नन्तु पादानथ निजगुरोरेष यास्यामि शस्यान् ।
ध्यायन्त्यै श्रीजिनपरिवृढ शीलरत्नेन शश्वद्
मा भूदेव क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोग ॥ १२३ ॥

× × × × ×

कोशाऽपि श्रीजिनमतरता शीलमाराध्य सम्यक्
पत्यु स्नेहादिव दिविषदा धाम सा स्नाग् जगाम ।
आपद् व्यापद्रहितमतुल तत्र सा त विशेषा–
दत्राऽमुत्र प्रदिशति सुखं प्राणिना जैनधर्मः ॥ १२९ ॥

× × × × ×

द्रङ्गे रङ्गे रतिकलतरे स्तम्भतीर्थाऽभिधाने
वर्षे हर्षाजलधिभुजगाऽम्भोधिचन्द्रप्रमाणे ।

चक्रे काव्य वरमिह मया स्तम्भनेशप्रसादात्
सद्भि शोध्य परहितपरैरस्तदोषैरसादात् ॥ १४१ ॥
॥ शीलदूताभिधान समस्यामय काव्य समाप्तम् ॥

आ सिवाय **इंदुदूत, चेतोदूत अने मेघदूतसमस्यालेख** आदि सदेश काव्योनो परिचयना जिज्ञासुओए **विज्ञप्तित्रिवेणी** जोवी जोइए (प्रस्तावना पृ० ६ थी २७) नाहक अहीं आपी पिष्टपेषण करवु उचित समजतो नथी

मेघदूतना जैनेतर अनुकरणो

आ प्रमाणे जैनेतरोए पण विविध दृष्टिए **कालिदासना मेघदूतनु अनुकरण** कर्यु छे तेओमा पण एके एवु सदेश काव्य अद्यापि मळ्यु नथी जे **कालिदासना मेघदूतनी** स्पर्धामा टकी शके अत्यार सूधीमा जे मळी आव्या छे तेमनो मात्र नामनिर्देश ज करवो बस समजु छु —(१) **पवनदूत–धोइक**कृत (२) **हंससंदेश–वेदांतदेशी**-कविकृत (३) **कोकिलसंदेश–उद्दंड**शास्त्रीकृत (४) **शुकसंदेश–लक्ष्मीदास**कृत (५) **उद्धवदूत–माधव**कवींद्र भट्टाचार्यकृत (६) **मनोदूत–तैलंगव्रजनाथ**कृत (७) **रथांगदूत**–नाम नथी (८) **पदांकदूत–कृष्णसार्वभौम**कृत (९) **हसदूत–रूपगोस्वामि**कृत (१०) **उद्धवसंदेश**–नाम नथी आ बधाना सबधमा रा **किलाभाइ** जणावे छे के, **वेदान्तदेशी**कविकृत **हंससंदेश** घणु उत्तम प्रकारनु दूतकाव्य छे अने अत्यत रमणीय होवाथी कालिदासना मेघदूतकरता पण चढे तेवु छे, एम **अभिनवभट्ट बाण कृष्णमाचार्य मेघसंदेशनी** प्रस्तावनामा लखे छे आ काव्य शोध करता पण मने मळी आव्यु नथी. एटले ते उपर कीधु तेमा केटलु सत्य छे, ते कही शकातु नथी परतु मेघदूतना करता ए काव्य जो चढे एवु होय, तो एनी आजसूधीमा घणी सारी प्रसिद्धि थवी जोइए आ सिवाय बीजा जे अनुकरणो मळे छे तेमाना केटला एक सामान्य काव्य तरीके सारा छे अने केटलाक माल वगरना पण छे

जैनमेघदूत.

माणस अनेक जन्मोना संस्कारोथी, पोताना आजुबाजुना सहवास-थी अनायासे शृंगाररसमा विशेष आनद पामे छे कविओ पण समाजना चारित्रनो विचार कर्या सिवाय या पोते पण पूर्वभूत संस्कारोथी दबायेला होवाथी समाजना इष्टानिष्टनो विचार कर्या सिवाय, पोतानी कृति टुक समयमा सर्वत्र विशेष आदर पामे, ए मुख्य लक्ष्य राखी काव्यसृष्टिमा विहर्या छे. श्रीमान् **हेमचंद्राचार्य काव्यानुशासन**मा रसनु वर्णन करता शृगाररसनु वर्णन पहेला केम कर्युं तेनु समा-धान करता जणावे छे के "तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयाऽत्यन्त-परिचितत्वेन सर्वान्प्रति हृद्यतेति पूर्वं शृगार" आचार्यश्रीए आ थोडा शब्दोमा माणसना हृदयनु प्रतिबिंब रजु करेलु छे शृगाररसना कार्यप्रदेशनी मर्यादा परस्पर स्त्रीपुरुषमा अवसान पामे छे तेमने हमेशा पोताना ज सुखनी लागेली होय छे तेओ अन्यना सुखदु खनी चिंता धरता नथी छेवटे तो शृगाररसनु पर्यवसान दु खमा ज आवे छे, या जो ते विकास पामे तो शान्तरसनु रूप धारण करे छे आथी कविओए जो शृगाररसथी आगळ वधी शान्तरसनी सृष्टि रची होत तो समाज विशाळ भावनावाळो थइ शक्यो होत रसनी जमावट एवी न होवी जोइए के मनुष्य पोतानी "वसुधैव कुटुम्बकम्" वाळी भावनाने नेवे मूके. जो शृगाररसथी तृष्णा विशेष बळवान बने तो ते शृगा-रिक साहित्यथी माणस आदर्शजीवी केवी रीते बनी शके शृगारिक साहित्यथी मनुष्यने बदलामा शु मळे छे? प्रियपात्रनी झखनामा शरीर घसाइ जाय छे, कुटुब, समाज के देशनी फरजो भूली जाय छे सारा-सारनो विचार थइ शकतो नथी वळी तेवु साहित्य सामान्य जनसमू-हमा फेलावाथी अनेक दुर्गुणोने आश्रय मळे छे आथी उलटु विचारीए— शान्तरसनु साहित्य माणसने शु लाभ आपे छे? अनुचित तृष्णानो नाश करे छे मनुष्यधर्मनु भान करावे छे. तृष्णाओ क्षय पामता तेनी मर्यादा विशाळ रूप धारण करे छे. तेनी भावना "सर्वे सत्त्वा सुखिनः सन्तु" होय छे. ते साहित्य जगतमा विश्वप्रेमनी भावना प्रसारे छे. प्रजाकीय साहित्यनी आशा राखनारने तो शृगारथी दूर रहेवु पडशे.

आ प्रमाणे कविओना काव्यो सोए नवाणु टका शृगाररसथी लदायेला होय छे तदनुसार आ कविए पण शृगार रसने प्रधानपद आप्यु छे पण कवि पोते धार्मिक अवस्थामा होवाथी तेनु पर्यवसान उत्तम शातरसमा करेलु छे तेथी ज आ बन्ने रसनी जमावट थइ शके ते माटे नायक तरीके यदुकुलशिरोमणी श्री**नेमिनाथने** पसद करवामा आव्या छे शृगारना रसपानथी घेलो थयेलो समाज, पोतानी प्रेमभावना धीरे धीरे विश्वप्रेममा परिणत करे, तेटला माटे ज पोतानी अवस्थाने घटे तेवा ऐतिहासिक दृष्टातो समाज समक्ष रजु करवा लाभदायक छे आवी अवस्थावाळा बे दृष्टातो जैनसमाजमा उज्ज्वळ कीर्तिथी पोतानु स्थान दीपावी रह्या छे एक तीर्थकर प्रभु नेमिनाथ अने बीजु स्थूलभद्र आ बे व्यक्तिओने अनुलक्षी जैन कविओए अनेक विविध काव्यो, कथानको, चरित्रो अने रासाओ गुथेला छे ते ज प्रमाणे आ काव्यमा प्रभु **नेमिनाथ**नु चरित्र आलेखायेलु छे

टुक काव्य परिचय

प्रभु नेमिनाथ बाळपणथी इद्रियोना विषय रसथी उदासी होवा छता, कुटुबीजनोना सतोषार्थे लग्न माटे तैयार थइ जाय छे तेवामा पोताना निमित्ते हजारो निर्दोष पशुओनु बलिदान थनार छे एम साभळ्यु आ समाचार साभळता ज घरबार, सहोदर अने पत्नी आदिनो त्याग करी पोतानु अतिम ध्येय प्राप्त करवा सौन्दर्यशाली गिरनार पर्वतउपर चाल्या गया

'पोताना पति पोतानो सदाने माटे त्याग करी चाल्या गया' आवो वज्रपात समान सदेश साभळी राजीमती मूर्छा पामे छे ते दरम्यान नवीन मेघनु आगमन थाय छे चदन अने बीजा शीतोपचारथी राजीमती कइक चेतनामा आवे छे, अने मेघनु दर्शन थता सहसा बोली उठे छे—

एक तावद्विरहिहृदयद्रोहकृन्मेघकालो
द्वैतीयीक प्रकृतिगहनो यौवनारम्भ एषः ।
तार्तीयीक हृदयदयित. सैष भोगाद्व्यराङ्क्षी—
त्तुर्यं न्याय्यान्न चलति पथो मानस भावि हा किम् ॥ ४ ॥

आवा सयोगोथी विरहानलमा बळती राजीमती विचारे छे के, मारु हृदय प्रिय वल्लभ विना तप्त पाषाणनी पेठे फूटे छे, आ दु खनो प्रतिकार दृष्टिसमक्ष उपस्थित थयेल आ मेघ ज छे कारण दावानळ-थी बळता वनने शीतळ जळथी शात करनार केवळ मेघ ज छे तद्-नुसार ते मारा प्रियतमने पण शात करशे आम विचारी केटलाक श्लोकोमा मेघनो सत्कार करे छे ते पछी पोताना पतिने जे सदेश कहेवानो छे, ते पहेला तेमनी ओळखाण करावे छे कवि प्रभुनु चरित चितरवामा बधु काव्य पूर्ण करे छे अथवा काव्य चार सर्गमा वहेचायु छे तेमनी विषयवार वहेचणी आ प्रमाणे करी शकाय—

पहेला सर्गमा नेमिनाथनी बाळक्रीडा तथा पराक्रमलीलानु वर्णन छे

बीजा सर्गमा वसतवर्णन छे तेमा प्रभुनी विविध प्रकारनी वसतक्रीडानु वर्णन छे

त्रीजा सर्गमा विवाहमहोत्सव अने गृहत्यागनु वर्णन छे

चोथा सर्गमा विरहविवशा राजीमती पतिविरहिणी स्त्रीनी दशानु वर्णन करे छे ते समये पोतानी दशानु वर्णन मेघने सभळावे छे—

> कोकी शोकाद्वसति विगमे वासरान्ते चकोरी
> शीतोष्णर्तुप्रशमसमये मुच्यते नीलकठी ।
> त्यक्ता पत्या तरुणिमभरे कञ्चुकश्चक्रिणेवाऽ-
> मत्र वारा हृद इव शुचामाभत्र त्वाभव भो ! ॥ ४–९ ॥

आ प्रमाणे पोतानी दु खित अवस्थानु वर्णन कर्या पछी पोताना प्राणनाथने कहेवाना सदेशने सभळावे छे चोथा सर्गना १४ मा श्लोकथी आरभे छे अने ३७ मा श्लोक सूधीमा समाप्त करे छे राजी-मतीनी साहेलीओ आ सदेशो साभळी राजीमतीने कहे छे—हे सखि ! तु क्या ने प्रभु नेमि क्या ? मेघ क्या अने आ तारो सदेश क्या ? आ सर्व अघटित बीना छे तु गमे तेटलो प्रयत्न करीश पण वीतरागी त्हारा उपर राग नहीं करी शके तु तेनो विश्वास छोडी

दे राजीमती सखीओना उक्त वचनो साभळी शोकनो त्याग करी केवळज्ञान पामेला प्रभुनी पासे जइ व्रतग्रहण करे छे त्या स्वामीना ध्यानथी तन्मयत्व–स्वामिमयत्व प्राप्त करे छे अथवा जेम स्वामी रागद्वेष रहित छे तेम तेणे रागद्वेष विनानु आत्मत्व प्रगटाव्यु

कवि अही काव्यने पुरु करे छे आ प्रमाणे आ सदेश महाकाव्य चार सर्गमा १९६ श्लोकोमा समाप्त थाय छे

आ काव्यनी रचना नामसाम्य विना बीजी बधी रीते स्वतत्र छे कविए बीजा सदेश काव्योनी माफक कवि कालीदासना मेघदूतनी समस्यापूर्ति करी नथी शैली, रचना, विभाग ए बधी बाबतोमा काव्य स्वतत्र छे काव्य प्रतिपदश्लिष्ट होवाथी क्लिष्ट छे तेथी टीकानी साहाय्य विना अर्थ कहाडवो तुरतमा कठिन लागे छे तो पण व्युत्पत्तिनी इच्छा राखनार विद्यार्थीने आ काव्य घणु उपयोगी निवडवा सभव छे पदलालित्य, अलकारता अने प्रासादिकतामा आ काव्यथी कवि **विक्रमनु नेमिदूत** अने **चारित्रसुंदरगणिनु शीलदूत** चढी शके छे एम निष्पक्षपातपणे कहेवु पडशे काव्यना गुणदोषनु पृथक्करण करवानु कार्य विद्वज्जनोनु छे

काव्यकार मेरुतुंग

जैन समाजमा **मेरुतुंग** नामना आचार्यो बे त्रण थया छे तेमा ग्रथकार तरीके तो बे ज अत्यार सूधीमा प्रसिद्धिमा आव्या छे. एक **चंद्रप्रभ**शिष्य **मेरुतुंग** अने बीजा **अंचलगच्छीय महेंद्रप्रभसूरि** शिष्य **मेरुतुंग** पहेला ग्रथकारनी समयमर्यादा चौदमो सैको छे अने बीजानी पदरमो सैको छे आ बीजा **मेरुतुंग** छे ते आपणा काव्यकार छे

प्रथम आचार्य **महापुरुषचरित** अथवा **उपदेशशत, प्रबंधचिंतामणी, विचारश्रेणी, धर्मोपदेश, थेरावली, षड्दर्शनविचार,** विगेरे ग्रथोना कर्त्ता तरीके सुप्रसिद्ध छे [1]

---

[1] आ आचार्यविषे विशेष जाणवानी इच्छा राखनारे बॉम्बे ब्रॉन्च रॉयल एशिआटिक सोसाइटी जर्नल इ १८६७–६८ पृ –१४७ जोवु

वीजा **मेरुतुंग** ते प्रस्तुत काव्यना कर्त्ता तरीके जाणीता छे आपणा आ काव्यकारना जीवनविषे विशेष प्रकाश पाडे तेवा घणा साधनो अत्र तत्र विखरायेला पड्या छे ते बधाने सरणीबद्ध गोठववामा आवे तो तेमने विषे सारु जाणी शकाय तेम छे परतु तेमना विषे कोइ प्राचीन कविए बनावेलो रास हस्तगत थयो छे ते रास थोडा समयमा प्रकाशित थशे एटले ते स्थळे आ सर्वे उपकरणोनो उपयोग करवा धार्यो छे ए माटे आपेला सामान्य परिचयथी वाचको सतोष मेळवशे एम इच्छीए छीए

काव्यकारनो अल्पपरिचय

मारवाडमा[1] आवेला **नाणी** गाममा **पोरवाल** वशीय **वहोरा वैरसिंहनु** कुटुब प्रख्यात हतु वहोरा **वैरसिंहनी** पत्नीनु नाम **नालदेवी** हतु अने तेनाज उदरथी आपणा काव्यकारनो वि स १४०३ मा जन्म थयो हतो गृहस्थावासमा तेमनु नाम **वस्तिक** हतु **अंचलगच्छीय** प्रसिद्ध आचार्य श्री**महेंद्रप्रभसूरि** विहरता विहरता ते गाममा आवी पहोंच्या वहोरा **वस्तिके** तेमनी पासे दीक्षा ग्रहण करी, अने ते समये तेमनु नाम **मेरुतुंग** राखवामा आव्यु एक तो बाल्यावस्था अने तेमा बालब्रह्मचर्यत्वनो सयोग थवाथी पोते विद्याध्ययन बहु सारु करी शक्या ते समयनी शिक्षानी पद्धतिनी अनुसार तेमणे सस्कृत, प्राकृत भाषामा अने तेनी साथे सबध धरावती विविध विद्याओमा बहु सारी व्युत्पत्ति प्राप्त करी हती समयना वहन साथे तेमनामा चारित्र, ज्ञान अने क्रियानो सपूर्ण विकास थयो, त्यारे तेमना गुरुए तेमने वि. स० १४२६ मा पाटणमा सूरिपद आप्यु ते पछी आगळ जता वि स० १४४५ ना फागण वदी ११ ना दिवसे गच्छनायकनी पद्वीपर तेमनी प्रतिष्ठा थइ गच्छ अने सघ उपर तेमनो सारो प्रभाव

१–व्याख्यान पद्धतिमा "थालदेश" एवो उल्लेख छे

२–व्याख्यान पद्धतिमा "वस्तो" अने आ गच्छनी गुर्जर पट्टावलीमा "वस्तपाल" नामछे ते ठीक लागे छे.

हतो एम तेमनी पाछळना उल्लेखोथी समजाय छे त्यार पछी वि स १४७१ मागशर सुदी १५ ना दिवसे पाटणमा काळधर्म पाम्या आ प्रमाणे तेमनी हैयाती वि स १४०३ थी १४७१ सूधी हती अर्थात् तेओ ६८ वर्षे जीवनमुक्त थया हता आटलु लाबु आयुष्य तेमणे पोताना विकास माटे अने समाजनी सेवार्थे खर्ची नाख्यु हतु आ तेमनो समयनिर्णय अचलगच्छनी पट्टावली, तेमनो रास वगेरे साधन उपरथी निर्णीत थयेल छे

ग्रंथकारतरीके जीवन

काव्यकारे पोताना जीवनमा रचेला ग्रथोनी सूची स्पष्टपणे आटली तो आपी शकाय छे—(१) **जैनमेघदूत महाकाव्य** (२) **सप्ततिकाभाष्यटीका** (३) **लघुशतपदी** (४) **धातुपारायण** (५) **षड्दर्शनसमुच्चय** (६) **बालबोधव्याकरण** (७) अने तेनी **वृत्ति** (८) **सूरिमंत्रकल्पसारोद्धार** वगेरे एमणे प्राय दरेक ग्रथनी पाछळ प्रशस्ति तो आपेली छे परतु क्याय रचनासमयनी नोध नथी तेथी दरेक ग्रथोनो समयनिर्णय कष्टसाध्य छे फक्त **सप्ततिकाभाष्यटीका**प्रशस्तिमा जणावे छे के —

'स्वस्य प्रशस्यस्मरणार्थमेतैर्विनेयवात्सल्यरसाभ्युपेतै ।
व्यतानि नन्दाम्बुधिवेदसोमसवत्सरे सप्ततिभाष्यटीका ॥"

आ सिवाय अन्य ग्रथोना निर्माणकाळ उपर विशेष प्रकाश पाडी शकाय तेम नथी

मेघदूतनी समाप्तिना छेडे तेओ कर्त्ता तरीके पोतानु नाम आपता नथी पण **सप्ततिकाभाष्यनी वृत्तिनी** प्रशस्तिमा स्वय पोताना ग्रथो बाबत जणावे छे के,

काव्य श्रीमेघदूताख्य षड्दर्शनसमुच्चयः ।
वृत्तिर्बालावबोधाख्या धातुपारायण तथा ॥
एवमादिमहाग्रन्थनिर्मापणपरायणाः ।
चतुराणा चिर चेतश्चमत्काराय येऽन्वहम् ॥

आ सिवाय दूतटीकाकार टीकानी पीठिकामा मेघदूतना कर्त्ता तरीके आचार्यनो ज उल्लेख करे छे

आ सिवाय **जीतकल्पसार** अने **ऋषिमंडल** स्तोत्रना कर्त्ता तरीके **मेरुतुंग**ने गणाववामा आवे छे, पण ते कया **मेरुतुंग** ते चोक्कस कही शकातु नथी वळी जैनग्रथावळीमा **बालावबोधव्याकरण**ना कर्त्ता साथे तेना उपर रचायेल **आख्यातवृत्तिढुंढिका, कृद्वृत्ति-टिप्पन** अने **प्राकृतवृत्ति**ना कर्त्ता तरीके पण **मेरुतुंग**नो उल्लेख छे पण मने तो आ नोधमा भ्रम लागे छे कारण पोते **मेरुतुंग सप्ततिका-भाष्यटीका**नी प्रशस्तिमा लखे छे ते प्रमाणे **बालबोधव्याकरण** अने तेनी वृत्तिना कर्त्ता होवा जोइए वळी बीजु कारण व्याकरणकर्त्ताने पोते ज पोताना व्याकरणउपर एकवृत्ति सिवाय भिन्न भिन्न वृत्तिओ बनाववानु प्रयोजन रहेतु नथी आ नोधमा भ्रम थवानु कारण एम कल्पी शकाय छे के नोधनारना हाथमा व्याकरणना भिन्न भिन्न कटका हाथ आव्या होय अने ते दरेक उपर तेमनी वृत्ति तो होय, ते प्रमाणे दरेके जुदी जुदी नोंध करी लागे छे आ सिवाय आ ग्रथोनु विस्तीर्ण स्पष्ट वर्णन तो तेमना रासना सपादन समये आपवानु होवाथी अही आटलु सक्षेप सूचन करी विरमवु ठीक लागे छे

टीकाकार

आ काव्य उपर बे टीकाओ थयेली छे एक आ काव्य साथे छपाइ छे ते, अने बीजी श्री**महीमेरुगणी**कृत छे आ प्रकाशन पामती टीकाना कर्त्ता श्री**शीलरत्नसूरि** छे टीकाना अवलोकनथी जणाय छे के, टीकाकार व्याकरण, अलकार अने न्यायशास्त्रमा व्युत्पन्न होवा जोइए स्थळे स्थळे प्रयोगोनी सिद्धि व्याकरणद्वारा बहु स्पष्टताथी समजावी छे टीका बहु सरल छे, जेथी अभ्यासीने अभ्यासमा मददगार निवडवा सभव छे

टीकाकार आ महाकाव्यकर्त्ताना प्रशिष्य थाय छे तेमना गुरुनु नाम **श्रीजयकीर्त्तिसूरि** छे तेओए आ टीका **पाटण**मा वि स **१४९१** ना चैत्रवदी ५ने बुधवारे रची छे तेनु सशोधन श्री**माणि-**

जयचंद्र सूरिए कर्यु छे आ सर्वे बाबत टीकाकारनी प्रशस्ति जोवाथी स्पष्ट थइ जाय छे तेओ आचार्य छे, छता मूळ गच्छनायक नहीं होवाथी एमने विषे विशेष वृत्तात मळी आवतो नथी तेमणे आ टीका सिवाय अन्य कृति करी होय तेम पण जाणवामा नथी टीकाना अध्ययनथी तेमना विषे बहुमान जागृत थयु अने तेने लीधे केटलो य प्रयत्न कर्यो, पण तेमणे कइ ग्रथरचना करी होय तेम जणायु नहीं

लेखक—

ता ३-१-२४ } छोटालाल मगनलाल शाह,
अमदाबाद } झुलासणवासी



निवेदन अने आभारप्रदर्शन ।

आ अपूर्व काव्य काव्यनु पठनपाठन करनारने अत्यन्त उपयोगी होवाथी **निर्णयसागर** जेवा सर्वोत्तम छापखानामा छपावी प्रसिद्ध कर्यु छे आ काव्यनु सशोधन मुनि श्री**चतुरविजयजी**ए कर्यु छे अने तेनी हस्तलिखित बे प्रतिओ पण तेओए ज मेळवी हती तेमानी एक प्रति प्रवर्तक श्रीमत् **कांतिविजय**जी महाराजना पुस्तकसग्रहनी हती ते प्रतिना कुल पत्रो ६६ हता पत्रनी दरेक पुठीमा १४ लीटिओ हती एटले तेनी बन्ने बाजुए मलीने २८ लीटिओ हती आ प्रतिना अतमा–"सवत् १९६६ मागसरवदि ९ बुध वारे" एवो लेख होवाथी आ प्रति नवीन छे अने ते जोइए तेवी शुद्ध न होती

बीजी प्रति **पाटणसंघना भंडारनी** हती तेना २६ पत्रो हता तेनी दरेक पुठीमा २४ लीटिओ लखेली हती आ प्रतिना छेवटमा– "सवत् १४९४ वर्षे वैशाखवदी २ सोमे लेखकपाठकयो शुभ भवतु ॥" एवो उल्लेख छे तेथी आ प्रति टीका रचाया पछी त्रीजे ज वर्षे लखाएली छे, छता जोइए तेवी शुद्ध नथी परतु उपरनी प्रति करता घणी ज सारी छे आ प्रतिमा टीकाकारनी प्रशस्तिनो ६ ठ्ठो श्लोक नथी

प्रस्तुत काव्यनु सशोधन तथा प्रुफ जोवानु कार्य मुनिराज श्री **चतुरविजयजी**ए नि स्वार्थबुद्धिथी घणी काळजी राखी करी आप्यु छे तेथी तेओश्रीनो अने पुस्तक आपनार महाशयोनो खरा अत करण-थी उपकार मानु छु जो के आ काव्यनु सशोधन सारी रीते थयु छे छता कोइ स्थळे पठनपाठन करनार महाशयने स्खलना देखाय तो सुधारी ले एटली प्रार्थना छे आ काव्य उपर **झुलासण**-निवासी भाइ श्री**छोटालाल मगनलाल** शाहे विस्तृत प्रस्तावना लखी आपी मने आभारी कर्यो छे तेथी ते महाशयनो पण उपकार मानु छु.

सेक्रेटरी

श्रीजैन आत्मानंद सभा.

भावनगर.

अञ्चलगच्छीय-श्रीमेरुतुङ्गाचार्यविरचितं

जैन-मेघदूतम् ।

॥ अर्हम् ॥

श्रीमद्विजयानन्दसूरिभ्यो नमः ।

श्रीमन्मेरुतुङ्गसूरिविरचितं

आचार्यश्रीशीलरत्नविरचितवृत्तिविभूषितं

जैनमेघदूतम् ।

प्रथमः सर्गः ।

आदौ यः समकालमेव सकलाश्चित्रं द्वितीयादये-
नान्वीतोऽप्युदितोदितेन महसा भ्राजिष्णुरुच्चैः कलाः ।
प्रादुर्भावयति स्म विश्वविहितोद्योतो वृषाङ्कोच्छ्रित-
श्रीकः श्रीऋषभः स पुष्यतु सुखं स्फारस्तुषारद्युतिः॥

संत्यज्याच्युतमप्यकृत्रिमगुणस्थैर्यं रसाधीश्वर
संपर्कं च बलाद्विमुच्य सकलं कल्कस्य कर्मार्जितम् ।
श्रित्वा रैवतपर्वतायतगुहां योऽपूर्वयोगीश्वरः
कल्याणोदयसारसिद्धिमतनोज्जीयात्स नेमिर्जिनः ॥

माधुर्येण मनोहरा परिणतौ सौख्यैकसंपादिका
काम्या कल्पतरोः फलावलिरिव स्फारा यदीया मुदम् ।
वाग्दत्ते विबुधव्रजाय स नवं श्रीमेघदूतं महा-
काव्यं श्रीगुरुमेरुतुङ्गगणभृच्चूडामणिर्निर्ममे ॥

गम्भीरार्थगुरुत्वधारिणि महाकाव्येऽत्र निर्दूषणे
टीका प्रत्युत लाघवाय भविता स्थूलार्थबुद्धेर्मम ।

अम्भोधिप्रभवे प्रभूतमहसा मान्ये महार्घ्ये मणौ
सामान्यस्वधियार्थजल्पनमजापालस्य बालस्य वा ॥
ये प्राज्ञाः स्वयमर्थचारिमगुणव्यापारपारङ्गमा-
स्तेषामेष विशेषकृन्नहि भवेन्मद्वाक्प्रपञ्चः किल ।
ये सूक्ष्माक्षरदर्शिनो नयनयोर्नैर्मल्यतोऽत्र स्वयं
किं तेषां स्फटिकोपलस्तु फलिनो वर्णस्फुटत्वप्रदः ॥
ये सन्ति मन्दमतयो भुवनेऽत्र बाला
मत्तोऽप्यतीक्ष्णतलिनप्रतिभाः स्वभावात् ।
तेषां प्रबोधविधये स्वमतिप्रकाश-
हेतुं च यत्नमहमप्यमुमातनोमि ॥

इह हि महामहिमसित्रीकृतमेरुमहीधरप्रोत्तुङ्गशृङ्गश्री**मेरुतुङ्ग**-सूरिश्वरा असमदुरव' प्रवरनवरसप्रसरपूत श्री**मेघदूतं** महाकाव्य चतुरचक्रचित्तचमत्कृतिचञ्चु प्रपञ्चयाञ्चक्रुः । नन्वग्रेऽपि श्री**हेमाचार्य**-पण्डितश्री**अमर-कालिदासा**दिमहाकविप्रणीतानि गणनातीतानि प्रतिपदप्रादुर्भवन्नवरसावतारसारालङ्कारसङ्गतश्रोत्रामृतसमाननिरुपमानध्वनिनिधीतमाधुर्यादिगुणप्रधानरचनास्फीतानि सन्ति सङ्ख्यावत्सन्ततिस्तव्यानि महाकाव्यानि । तैरपि व्युत्पत्तेर्जायमानत्वात् किमय मुधा प्रयत्नः? उच्यते, सत्स्वप्यतुच्छप्रौढतापदप्रदत्तप्राप्तरूपचित्तप्रसादेष्वपि चिरन्तनेषु प्रासादेषु पुन सुकृतिनां नवनवप्रासादनिर्मापणवद्विद्यमानेष्वपि महाकाव्येषु महाकवीना नवनवकाव्यनिर्मापण परमप्रतिष्ठापदमेव । तथा च प्रयोगः—"सत्स्वपि काव्येषु कवीना नवीनकाव्यनिर्मापण युक्तमेव प्रतिष्ठाप्रदत्वात्, नव्यप्रासादनिर्मापणवत् ।" चातुर्यस्य च फलमेतदेव, यथा **रुद्रटः**—"फलमिदमेव हि विदुषा शुचिपदवाक्यप्रमाणशास्त्रेभ्यः । यत्संस्कारो वाचा वाचश्च सुचारुकाव्यफलाः ॥"

१ 'श्रुतिपद०' इत्यपि ।

(काव्यालङ्कार १,१३) ननु नहि निष्प्रयोजना प्रवृत्तिः प्रेक्षावता-मिति किमत्र प्रयोजनं? उच्यते, "काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परिनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥" (१, २) इति **काव्यप्रकाशा**द्युक्तेषु बहुष्वपि प्रयोजनेष्वत्र जगत्त्रयत्रायक**श्रीनेमिजिन**नायकपवित्रचरित्राकर्णनादेव परमप्रमोदोत्पत्तिः प्रयोजनम्, सकलप्रयोजनेषु तस्या एव प्रशस्यत्वादन्यप्रयोजनेषु सुविहितयतीनामिच्छाया असम्भवाच्च। ननु महाकाव्यानि तान्येवोच्यन्ते यत्र नगनगरसागरनरपतिप्रधानर्तुचन्द्रसूर्योदयशृङ्गारादिनवरसवर्णनं स्यात्। यथा **रुद्रटः**—"सन्ति द्विधा प्रबन्धाः काव्यकथाख्यायिकादयः काव्ये। उत्पाद्यानुत्पाद्या महल्लघुत्वेन[1] भूयोऽपि॥ तत्रोत्पाद्या येषां शरीरमुत्पादयेत्कविः सकलम्। कल्पितयुक्तोत्पत्तिं नायकमपि कुत्रचित्कुर्यात्॥ पञ्चरमितिहासादिप्रसिद्धमखिलं तदेकदेशं वा। परिपूरयेत्स्ववाचा यत्र कविः सेत्यनुत्पाद्या॥ तेषु महान्तो येषु प्रकृतेष्वभिधीयते चतुर्वर्गः। सर्वे रसाः क्रियन्ते काव्यस्थानानि सर्वाणि॥ ते तैनवो विज्ञेया येष्वन्यतमो भवेच्चतुर्वर्गात्। असमग्राऽनेकरसा ये च समग्रैकरसयुक्ताः॥" (काव्यालङ्कार १६, २-६) इत्यादिवचनादत्र तेषां सर्वेषामसाकल्येऽपि कथं महाकाव्यता? इति चेत् सत्यम्, परं पेप्रीयमाणविद्वल्लोकैः स्तोकैरपि परमयुक्तियुक्तैरपूर्वार्थरचनानुषक्तैः प्रधानैः काव्यस्थानैर्महाकाव्यव्यपदेशो नानौचित्यमञ्चति, **नैषधा**दिकाव्यवत्। अथवा परमाभङ्गुरगुरुसौभाग्यरङ्गावतारसर्वदैवतसारयदुकुलशृङ्गार**श्रीनेमिकुमार**चरितकीर्त्तनात्केवलादेव जाघटीत्यस्य महाकाव्यप्रतिष्ठा। यथा जात्यरत्नरचितसौवर्णमुद्रिकयैव शृङ्गारेषु शोभासम्भारः। तत्रादौ मङ्गलाभिधेयगर्भमिदं वृत्तम्—

---

१ "लघवो" रुद्रटकाव्यालङ्कारे।

कश्चित्कान्तामविषयसुखानीच्छुरत्यन्तधीमा-
नेनोवृत्तिं त्रिभुवनगुरुः स्वैरमुज्झाञ्चकार ।
दानं दत्त्वा सुरतरुरिवात्युच्चधामारुरुक्षुः
पुण्यं पृथ्वीधरवरमथो रैवतं स्वीचकार ॥ १ ॥

'कश्चित्' लोकोत्तरगुणतयाऽलक्ष्यस्वरूपस्त्रिभुवनगुरुः 'कान्ता' पत्नीं 'स्वैरं' स्वेच्छया 'उज्झाञ्चकार' तत्याज । त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनम्, 'पात्रादिवर्जितादन्तोत्तरपदः समाहारे ।' (हेमलिङ्गानुशासन स्त्री० ५ श्लो०) इत्यत्र भुवनशब्दस्य पात्रादिगणान्त.पाठान्न ङीप्रत्यय· । ततश्च त्रिभुवने गुरुर्महान्, महत्त्वं चास्य गार्हस्थ्येऽप्यनन्यसम्भविपरब्रह्मविद्याविशेषत्वात्सकलसुरासुरनरेश्वराणां वन्दनीयत्वाच्च । यदि वा "भाविनि भूतवदुपचारः" इतिन्यायात्त्रिभुवनस्य गुरुः शास्ता सम्यग्धर्मोपदेशक इति यावत् । अचिरेणैव केवलज्ञानोपलम्भेन यथावस्थितसमस्तवस्तुतत्त्वावबोधात्सकलसत्त्वहितार्थमेव प्रवर्त्तनशीलत्वाच्चेति । नन्वविषयेत्यादिविशेषणानि किं स्वरूपप्रतिपादकानि व्यवच्छेदकानि वा?, आद्ये पक्षे तानि वैयर्थ्यं प्राप्नुयुः । अथ व्यवच्छेदकानि तर्हि किं व्यवच्छेदं निजागद्यते?, कान्तात्यागस्तथाविधहेत्वन्तरेणापि स्यान्नलादिवदित्याह—'अविषयसुखानीच्छु.' विषयाः श्रोत्रादीन्द्रियार्थाः शब्दादयस्तद्रहितानि सुखान्यविषयसुखानि विषयसुखानां दुर्गतिदायित्वादिदोषदुष्टत्वेन तत्त्वतो दु खरूपत्वादकृत्रिमचिदानन्दसुखानीतिभावस्तानीच्छतीत्येवंशील इच्छु. "विन्द्विच्छू" (सिद्धहेम ५—२—३४) इत्यनेन इच्छुर्निपातः । अविषयसुखेच्छा च कदाचित्तत्तद्विषयदोषानुभवेऽपि स्यादत आह—'अत्यन्तधीमान्' अन्तमतिक्रान्ता अत्यन्ता, "प्रात्यवपरिनिराद्योगतक्रान्तकुष्ट—" (सिद्धहेम ३—१—४७) इत्यादिना तत्पुरुषः क्रियाविशेषणं वा । ततोऽत्यन्ता अत्यन्तं वा धीर्विद्यते यस्य स तथा, औत्पत्तिक्यादि-

बुद्धित्रिकस्यातत्त्वनिष्ठेन प्रायः सान्तत्वादत्यन्तधीरत्र पारिणामिक्येव गृह्यते, तस्या एव सम्यग् हेयोपादेयपरिणामसुन्दरविचारसामर्थ्येनात्यन्तानि श्रेयसफलवत्त्वेनात्यन्तविशेषणविशिष्टत्वात् । ननु यद्येवंविधो भगवान् तदा कान्तां किमत्यजत् ? इत्याह—'एनोवृत्तिं' एनसां हिंसादिपातकानां वृत्तिं व्यापारं सर्वपापव्यापाराणां कारणत्वात् । कान्तायाः शुद्धसारोपलक्षणया एनोवृत्तेरारोपः, यथा "आयुर्घृतं, यशस्त्यागः." इत्यादि । कथं कान्तां तत्याज ? इत्याह—'स्वैरमिति' स्वेच्छया न तु परोपदेशेन, अर्हतां स्वयमेव सबुद्धत्वात् । 'अथो' इत्यानन्तर्ये । 'सुरतरुरिव' कल्पवृक्ष इव दानं दत्त्वा 'रैवतं' सुराष्ट्रामण्डलालङ्कारं श्रीगिरिनारं 'स्वीचकार' भेजे । दीयते यत्तद्दानं कोटिसङ्ख्यकाञ्चनादि, भुजिपत्यादीनां आकृतिगणत्वात्कर्मण्यनट्, यथा भोजनमिति । ननु अस्वं स्वं चकार स्वीचकारेति व्युत्पत्तेराश्रयणात्तस्य भगवतो ममत्वदोषः प्रसज्यत इति चेन्न, योगिनामपि ध्यानसाधनस्थानादिषु स्वीचकारमात्रदर्शनात् । अन्यथा योग्यदेशादिषु प्रवृत्तिरयोग्यादिभ्यश्च निवृत्तिस्तेषां न स्यादिति । अपरपर्वतान् परित्यज्य रैवतमेव कुतः स्वीचकार ? इत्याह—'पृथ्वीधरवरं' पृथ्वीधरेषु मेरुमानुषोत्तरादिषु सुखाधिरोहत्वासन्नत्वाभ्यामुपयोगित्वात् शेषपर्वतेषु पुनः सहस्राम्रवणादिसौन्दर्येण तुङ्गत्वादिना च वरं श्रेष्ठम् । एवंविधश्च पर्वतः सदोषोऽपि कदाचिद्भवतीत्याह—सर्वदोषाणां सर्पमार्जारवायसादिहिंस्रजन्तूनां चाभावेन 'पुण्यं' पवित्रम् । कुतो रैवतं स्वीचकार ? इत्याह—'अत्युच्चधामारुरुक्षु' अतिशयेनोच्चं धाम स्थानमपरस्थानस्यैतद्विशेषणानुपपत्तेर्लोकाग्ररूपमारोढुकामः, अयमर्थः—अन्यो योऽत्युच्चतरस्थानमधिरोढुमिच्छति स उच्चं स्थानं भजते । एवं भगवानप्यत्युच्चमुक्तिपदारोहं वाञ्छन्नुत्तुङ्गं रैवतपर्वतं स्वीचकारेति । इह कश्चित्कान्तेति वाक्यावयवः श्री**कालिदासकृत**-**मेघदूत**महाकाव्यप्रथमवृत्ताद्यवर्णानुवृत्त्योपात्तः । न चैवमत्र कर्तृ-

कर्मणोः कथामूलबीजयोः साक्षान्नाम्नोरनुपादानाद्वाच्यहीनदोषो वाच्यः, अनन्यसाधारणतथाविधप्रसिद्धार्थसामर्थ्यादेव तत्प्रतीतेः । न खलु यदुकुलालङ्कारश्रीनेमिकुमारादपरस्य कस्यापि त्रिभुवनगुरोः स्वसमये परसमये च कान्तात्यागवार्षिकदानगिरिनारस्वीकारविषया प्रतीतिरस्ति येन तत्साधारण्यनिवृत्तये नामोपादानं क्रियत एव । किञ्चार्थसामर्थ्यात्प्रतीयमानस्य वस्तुनः साक्षादप्रकाशनं प्रत्युत दीप्तिहेतुः, 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति वचनात् काव्ये व्यङ्ग्यस्यैव प्राधान्यात्, "इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ।" (का० प्र० १, ४) इति **काव्यप्रकाशो**क्तेः । शब्दस्य व्यञ्जकत्वं संयोगादिभिः स्यात्, "संयोगो[१] विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता । अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥ प्रस्तावदेशकाला[२]देर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् । शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥" अत्र कान्ता त्यक्त्वा श्रीगिरिनारस्वीकारो देशवैशिष्ट्यम् । त्रिभुवनगुरोः शब्दस्य नेमीश्वरनामव्यञ्जकत्वम् । **न्यायसारे**ऽप्युक्तम्—"अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनं पुनरुक्तम् ।" तत्रापि कश्चिदिति पदं समानेऽपि सकलत्रिभुवनगुरूणामलक्ष्यत्वे शङ्खपूरणचतुर्भुजान्दोलनवसन्तखेलनादिप्रवृत्तिपथप्रवर्त्तानन्तुत्तरनिवृत्तिकोटिमारूढस्य सुविशेषतरमस्य भगवतोऽलक्ष्यत्वं द्योतयति । यथा— "सर्वज्ञाय नमस्तस्मै कस्मैचित्परमात्मने ।" इह "यावत्सम्भवस्तावद्विधिः" इतिन्यायाद् विशेषोऽपि व्याख्यायते—अन्योऽप्यत्यन्तधीमान् कश्चित्पुमान् एनोवृत्तिमुज्झति । किंरूपाम्? सकलजीवस्वाभाव्यात्कान्ताम् । अथोऽनन्तरं पुण्यं स्वीकरोति । किंभूतं पुण्यम्? पृथ्वीधरवरं, पृथ्वीं धरन्तीति पृथ्वीधरा लोकरूढ्या शेषाहिवराहकूर्मादयस्तेषु वरं श्रेष्ठम् । अनवस्थादोषपरिहाराय सर्वै-

---

१ "संसर्गो" इति क्वचित् । २ "सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।" इति ग्रन्थान्तरेषु पाठः ।

रपि परमार्थतो धर्म्मस्यैव पृथिव्याधारत्वेन स्वीकारात् । शेषविशे-षणपदान्यत्रापि पूर्ववद्वाच्यानि । केवलमत्युच्च धाम लोकाग्ररूप सर्वोत्तम तेजो वा । ननु काव्य गुणालङ्कारभूषित कार्यम् । यतो **वाग्भटः**—"साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालङ्कारभूषितम् ।' (१-२) इत्यादि । अत्र को गुणः? कोऽलङ्कारः? उच्यते, यद्यपि **वाग्भटे** दश गुणाः सन्ति तथापि **काव्यप्रकाशेऽलङ्कार-चूडामणौ** च त्रयो गुणा प्रोक्ताः सन्ति, 'माधुर्यौजःप्रसादा-स्त्रयो गुणा· ।' (अलङ्कारचू० ४ अ०) अन्येषामेष्वेवान्तर्भावात् । अत्रार्थस्य झगित्यर्थार्पकत्वात् प्रसाद· । पदाना मृदुरचनया च माधुर्यमपि । एव गुणा यथार्हमूह्या. । एषा लक्षणम्—"मूर्ध्नि-वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू । अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये रचना तथा ॥ योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययो । टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ॥ श्रुतिमात्रेण शब्दाना येनार्थप्रत्ययो भवेत् । साधारणः समग्राणा स प्रसादो गुणः स्मृत· ॥" (काव्यप्रकाश ८,७४–७६) ननु सगुणमपि काव्य युवतीरूपमिव निरलङ्कार नाभात्यतोऽलङ्कारा उच्यन्ते—अलङ्कारा द्विधा, शब्दार्थभेदात् । तत्र शब्दालङ्कारा· पञ्च—वक्रोक्ति १ अनु-प्रास २ यमक ३ चित्र ४ श्लेष ५ रूपाः । अर्थालङ्कारास्तूप-माद्या बहुप्रकारा । अत्रान्येष्वपि च काव्येषु प्रायोऽनुप्रासः शब्दा-लङ्कारस्तारतम्येन ज्ञेय. । तल्लक्षणम्—"तुल्यश्रुत्यक्षरावृत्तिरनु-प्रासः स्फुरद्गुणः" (वाग्भट ४, १७) इति । कश्चित्कान्तामित्यादौ काद्यक्षरावृत्तिः स्वयमभ्यूह्या । अर्थालङ्कारास्तु अवसर १ हेतु-२ दीपक ३ उपमा ४ जाति ५ श्लेषा ६ ज्ञेयाः । तत्र श्रीनेमि-सम्बन्ध प्रतिपादयितुः कवेः कश्चित्कान्ता तत्याज रैवत स्वीच-कारेति तस्योपलक्षणमित्यवसर., "यत्रार्थान्तरमुत्कृष्टं सम्भवत्युप-लक्षणम् । प्रस्तुतार्थस्य स प्रोक्तो बुधैरवसरो यथा ॥" (वाग्भट ४, १२४) कान्तात्यागेऽविषयसुखेच्छुताऽत्यन्तधीमत्ता एनो-

वृत्तिमित्यादि तद्योग्यतोक्त्या हेतुः, "यत्रोत्पादयतः किंचिदर्थं कर्तुं प्रकाश्यते । तद्योग्यतायुक्तिरसौ हेतुरुक्तो बुधैर्यथा ॥" (वाग्भट ४, १०५) इति वचनात् । कान्तामुज्झाञ्चकार रैवतं स्वीचकारेति क्रियाद्वयस्य कश्चिदित्यनेन सम्बन्धाद् दीपकम्, यतः—"आदिमध्यान्तवर्त्येकपदार्थेनार्थसङ्गतिः । वाक्यस्य यत्र जायेत तदुक्तं दीपकं यथा ॥" (वाग्भट ४, ९९) सुरतरुरिवेत्युपमा । तल्लक्षणम्—"उपमानेन सादृश्यमुपमेयस्य यत्र सा । प्रत्ययाव्ययतुल्यार्थसमासैरुपमा मता ॥" (वाग्भट ४, ५०) तथा पुण्यः पृथ्वीवरवर जातिः । यतः—"स्वभावोक्तिः पदार्थस्य सत्क्रियस्याक्रियस्य वा । जातिर्विशेषतो रम्या हीनत्रस्तार्भकादिषु ॥' (वाग्भट ४, ४७) एकेन वाक्येन तैरेव पदैर्द्वितीयार्थस्योद्भावात् श्लेषः । "पदैस्तैरेव भिन्नैर्वा वाक्यं वक्त्येकमेव हि । अनेकमर्थं यत्रासौ श्लेष इत्युच्यते यथा ॥" (वाग्भट ४, १२८) एषां संयोगात् सङ्करो ज्ञेयः ॥ १ ॥

दीक्षां तस्मिन्निव नवगुणां सैषणां चापयष्टिं
प्रद्युम्नाद्यामभि रिपुचमूमात्तवत्येकवीरे ।
तद्भक्तेति च्छलितजगता क्लिश्यमाना निकामं
कामेनाशु प्रियविरहिता भोजकन्या मुमूर्च्छ ॥ २ ॥

'भोजकन्या' राजीमती 'आशु' शीघ्रं मुमूर्च्छ । क्व सति? 'तस्मिन्नेकवीरे' श्रीनेमिनाथे दीक्षां 'आत्तवति' गृहीतवति सति । विशेषेणेरयति प्रेरयति महामोहमिति वीरः, एकोऽद्वितीयो वीर एकवीरः "पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलम्" (सिद्धहेम ३-१-९७) इति कर्मधारयः । तस्मिन् समये तादृशचरितस्यान्यस्याभावादद्वितीयः, "एकोऽन्यः केवलः श्रेष्ठः सङ्ख्या" (हेमानेकार्थद्विस्वरकाण्ड २श्लो०) इत्यनेकार्थात् । यद्वा वीरः सुभटः । किंभूतां दीक्षाम्? उत्प्रेक्ष्यते—प्रद्युम्नाद्यां रिपुचमूं 'अभि' लक्ष्यीकृत्य 'चा-

पयष्टिमिव' धनुर्यष्टितुल्यामित्यर्थः। प्रद्युम्नः काम आद्यो मुख्यो यस्या सा प्रद्युम्नाद्या ताम्। पक्षे प्रकृष्टं द्युम्नं बलं यस्य स प्रद्युम्नो बलाधिकः पुमानाद्यो यस्या सा ताम्। किंविशिष्टां दीक्षाम्? 'नवगुणां' नवा गार्हस्थ्ये प्रागभूतत्वान् प्रत्यग्राः शीलक्षमादयो गुणा यस्याः सा ताम्। चापपक्षे नवो गुणः प्रत्यञ्चा यस्याम्। पुनः किंभूतां दीक्षाम्? 'सैषणां' सकलदोषविशुद्धभक्तपानादिग्रहणरूपैषणाख्यतृतीयसमितिसहिताम्। धनुःपक्षे एषणो नाराचः। अत्रान्याः समितीर्विहायैषणासमितेरेवोपादानं व्यवहारशुद्धिर्गृहस्थानामाहारशुद्धिश्च साधूनां प्रशस्यते इति ज्ञापनार्थम्। ननु यदि तेन भगवता दीक्षा गृहीता तदा राजीमती किं मूर्च्छिता? इत्याह—कामेन 'निकामम्' अत्यर्थं क्लिश्यमाना। किंभूतेन कामेन? 'छलितजगता' छलितं जगद्विश्वं येन। कुतः क्लिश्यमाना? 'तद्भक्ता' इति, एषा राजीमती तस्मिन् श्रीनेमिनाथे भक्ता तद्भक्ता। तथापि राजीमती कुतः पीडयितुं शक्या? इति विशेषणद्वारेण हेतुमाह—'प्रियविरहिता' प्रियेण भर्त्रा श्रीनेमिना विरहिता वियुक्ता। ततश्चायमत्र भावः—श्रीनेमीश्वरेण चारित्रे गृहीते सति तद्विरहदुःखेन राजीमती मूर्छितेत्येवकथा सम्बन्धसर्वस्वेतिसति कविरुत्प्रेक्षते—यदा किलाग्रेसरीभूतकन्दर्पसुभटस्य महामोहकटकस्य ध्वंसनायैकवीरेण श्रीनेमिना सैषणा दीक्षाचापयष्टिरग्राहि तदा श्रीनेमिनं प्रत्यपकर्तुमशक्नुवता छलयुद्धकुशलेन कामेन श्रीनेमिभक्ता श्रीनेमिरहिता चेति निकामक्लिश्यमाना सती राजीमती मूर्च्छिता। अत्र च भोजकन्या प्रियविरहिता चेति मिथो विरुद्धविशेषणद्वयोपादानं राजीमत्या भगवान् वरो वृतो भगवता पुनर्नैषा वधूत्वेन स्वीकृतेत्युभयभावज्ञापनार्थम्। अत्रोपमाऽनुप्रासश्लेषोत्प्रेक्षाहेत्वलङ्काराः। "कल्पना काचिदौचित्याद्यत्रार्थस्य सतोऽन्यथा। द्योतितेवादिभिः शब्दैरुत्प्रेक्षा सा स्मृता यथा॥" (वाग्भट ४, ९०)॥ २॥

ततो मूर्च्छानन्तरं किं जातम्? इत्याह—

सध्रीचीभिः स्खलितवचनन्यासमाशूपनीतैः
स्फीतैस्तैस्तैर्मलयजजलाद्रादिशीतोपचारैः ।
प्रत्यावृत्ते कथमपि ततश्चेतने दत्तकान्ता-
कुण्ठोत्कण्ठं नवजलमुचं सा निदध्यौ च दध्यौ ॥ २ ॥

'ततः' तदनन्तरं 'सा' राजीमती 'नवजलमुचं' नवीनमेघं 'निदध्यौ' ददर्श 'च' अन्यद् 'दध्यौ' वक्ष्यमाणं विचारयामास । क्व सति? 'तैस्तैः' सर्वलोकप्रसिद्धैः 'स्फीतैः' प्रभूतैर्मलयजजलाद्रादिशीतोपचारैः 'कथमपि' महता कष्टेन 'चेतने' ज्ञाने 'प्रत्यावृत्ते' सति पश्चाद्वलिते सति । मलयजं चन्दनं जलाद्रां क्लिन्नवस्त्रमित्यादयो ये शीता उपचारास्तैः । किंरूपैः? 'सध्रीचीभिः' सखीभिः स्खलितवचनन्यासं यथाभवति 'आशु' शीघ्रं 'उपनीतैः' ढौकितैः । स्खलितः स्खलनां प्राप्तो वचनानां न्यासो यत्र शीतोपचारोपनयने । कोऽर्थः? राजीमतीं मूर्च्छितां दृष्ट्वा शोकेन इलाश्चन्दनं चन्दनं जलार्द्रा जलार्द्रेत्यादि सखीनां वचनान्यौत्सुक्येन स्खलन्ति स्मन्तीति । किंरूपं नवजलमुचम्? 'दत्तकान्ताकुण्ठोत्कण्ठं' दत्ता कान्ते प्रिये कान्तायां वा पत्न्यामकुण्ठा तीक्ष्णा उत्कण्ठा येन स तथा । वर्षाकाले हि नवं मेघमुन्नतं दृष्ट्वा नारीणां कान्ते नराणां कान्तायामुत्कण्ठा जायते । ततः शोकगद्गदस्वराभिः सखीभिरानीतैश्चन्दनादिशीतोपचारैश्चैतन्ये पश्चाद्वलिते सति राजीमती नवं मेघं ददर्श । तथेति मनस्यध्यायदिति भावार्थः । अत्रानुप्रासप्रकरः । स्खलितवचनन्यासमित्यादिविशेषणैरौत्सुक्यभावोदयः । परिकरालङ्कारश्च, यथा **रुद्रटः**—"साभिप्रायैः सम्यग्विशेषणैर्वस्तु यद्विशिष्येत । द्रव्यादिभेदभिन्नं चतुर्विधः परिकरः स इति ॥" (काव्यालङ्कार ७, ७२) दत्तकान्तेत्यादि नवमेघविशेषणं राजीमत्या अपि स्वामिन्यनुरागभावं सूचयतीति भावः ।

तथा—"यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन । गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ ॥" (रुद्रटकाव्यालङ्कार ७, ३८) निदध्यौ दध्यौ चेति क्रियाद्वयेन समुच्चयः । यथा—"यत्रैकत्रानेकं वस्तु परं स्यात्सुखावहाद्येव । ज्ञेयः समुच्चयोऽसौ त्रेधाऽन्यः सदसतोर्योग. ॥" (रुद्रटकाव्यालङ्कार ७, १९) एवमनुप्रासपरिकरभावसमुच्चयपरिकरालङ्कारा औत्सुक्यभावोदयश्च॥३॥

अथ सा यद्दध्यौ तदाह्—

एकं तावद्विरहिहृदयद्रोहकृन्मेघकालो
द्वैतीयीकं प्रकृतिगहनो यौवनारम्भ एषः ।
तार्तीयीकं हृदयदयितः सैष भोगाद्व्यराङ्क्षी-
त्तुर्यं न्याय्यान्न चलति पथो मानसं भावि हा किम्॥४॥

'एकं तावदिति' लोकोक्तेरनुकरणम् । यथा—"एकतो हि गमनं परदेशे अन्यतश्च पिशुनैः सह सङ्गः । पूर्वमेव हि कुभोजनमेकं मक्षिकाकवलितं च ततोऽन्यत् ॥ १ ॥" लोको हि दुःखपरम्परापीडित एवं वक्ति तेनात्र न्यूनपदत्वं न दोषाय किन्तु गुणाय । अव्यक्तत्वान्नपुंसकम् । "गायत्र्याद्यणस्वार्थे व्यक्तं" (हे० लिं० न० १०) इति वचनात् । यथाऽस्या गर्भे किं जातमिति । ततोऽयमर्थः—एकं तावदिदं कष्टं यत् 'मेघकालः' वर्षाकालः किंविशिष्टः ? विरहिणां हृदयस्य द्रोहं करोतीति विरहिहृदयद्रोहकृत् । 'द्वैतीयीकं' द्वितीयमिदं कष्टं 'प्रकृतिगहनः' स्वभावविषमः 'यौवनारम्भः' तारुण्यप्रवेशः । 'तार्तीयीकं' तृतीयमिदं कष्टं यत् 'सैषः' सर्वजगत्प्रसिद्ध एष मानसप्रत्यक्षतया समीपवर्ती साक्षादनुभूयमानो भगवान्नेमिर्भोगात् 'व्यराङ्क्षीत्' विरक्तः । किंरूपो भगवान् ? हृदयस्य दयितो वल्लभः । 'तुर्यं' चतुर्थमिदं कष्टं यत् 'न्याय्यात्' न्यायादनपेतात् 'पथः' मार्गात् 'मानसं' चित्तं 'न चलति' न भ्रश्यति । एतावता स्वीयस्वामिनं परित्यज्य मनोऽन्य

पुरुष न प्रार्थयतीतिभाव. । द्वैतीयीकं तार्तीयीकमित्यत्र द्वितीयस्य पूरण द्वैतीयीक तृतीयस्य पूरण तार्तीयीकम्, "तीयाट्टीकण्" (सि० ७-२-१५३) टीकण् प्रत्ययः । "वृद्धि स्वरेष्वादेः-" (सि० ७-२-१) वृद्धि. । सैष इत्यत्र "तदः से स्वरे पादार्थो" (सि० १-३-४५) इत्यनेन सिलोपः । यथा—"सैष दाशरथी रामः सैष राजा युधिष्ठिरः । सैष कर्णो महात्यागी सैष भीमो महाबलः ॥" व्यराङ्क्षीत्, रञ्जी रागे, रञ्ज विपूर्वः । अद्यतनी दि । "सिजद्यतन्या" (सि० ३-४-५३) सिच् । "व्यञ्जनानामनिटि" (सि० ४-३-४५) वृद्धिः । "सः सिजस्तेर्दिस्योः" (सि० ४-३-६५) ईआगमः । "चजः कगम्" (सि० २-१-८६) ज ग । "अघोषे प्रथमोऽशिटः" (सि० १-३-५०) ग क । "नाम्यन्तस्था-" (सि० २-३-१५) स ष । कषसयोगे क्ष लोकात् । तुर्यमित्यत्र चतुर्णा पूरण तुर्य, "ये यौ चलुक् च" (सि० ७-१-१६४) यप्रत्यय चलुक् । न्यायादनपेत न्याय्य तस्मादनपेते यप्रत्ययः । अत्रासत्पदार्थसमुदायादसत्समुच्चयः । न्याय्यान्नेत्यत्र पर्यायः । यथा—"वस्तुविवक्षितवस्तुप्रतिपादनशक्तमसदृश तस्य । यदजनकमजन्य वा तत्कथन यत्स पर्यायः ॥" (रु० का० ७, ४२) विप्रलम्भरसाधिक्य वा ॥ ४ ॥

कृष्णो देशप्रभुरभिनवश्चाम्बुदः कालिमानं
न्यध्यासाते तदवगमयाम्येनसैवार्जितेन ।
तत्रैकोऽस्मत्पतिविरचिताश्लेषपेषानिषेधा-
दन्योऽस्माकं गहनगहने विप्रयोगेऽग्निसर्गात् ॥ ५ ॥

यत् 'देशप्रभुः' देशस्वामी कृष्णः 'च' अन्यत् अभिनवोऽम्बुदः 'कालिमान' कृष्णत्व 'न्यध्यासाते' बिभृत. 'तत्' कारणमह 'अवगमयामि' जाने । येन हेतुनैतौ द्वावपि कृष्णाङ्गौ जातौ तत्कारणमह जान इत्यर्थः । अत्रावगमयामीति कथ प्रयोगः सिध्यति ?

पालयतीतिवत् अन्तर्भूतण्यर्थस्य ण्यन्तस्य प्रयोगः। अथवा तत्कारणं जनं 'अवगमयामि' ज्ञापयामीत्यविवक्षितकर्मधातुः। अथवाऽवगमनमवगम', "युवर्णवृदृवशरणगमृद्ग्रहः" (सिद्ध० ५-३-२८) अल्प्रत्ययः, तस्य हेतोरवगमस्तदवगम', तदवगम करोमि तदवगमयामि। "णिज् बहुल नाम्नः-" (सिद्ध० ३-४-४२) णिच्प्रत्ययः, "त्र्यन्त्यस्वरादे." (सिद्ध० ७-४-४३) अन्त्यस्वरलोप', पश्चान्मिव्प्रत्यये सिद्धम्। अथवा यत्तदिति विभक्तिप्रतिरूपका अव्ययशब्दाः। किं कारणम्? इत्याह—अर्जितेन 'एनसैव' पापेनैव तौ कालिमान न्यध्यासाते इति शेष। अथ पापार्जने हेतुमाह—कस्मादर्जितेनेति। 'तत्र' तयोर्द्वयोर्मध्ये 'एकः' कृष्णः 'अस्मत्पतिविरचिताभ्रेषपेषानिषेधात्' अर्जितेनैनसाऽस्माकं पतिरस्मत्पतिस्तेन विरचितो योऽभ्रेषो न्यायस्तस्य पेषो विनाशस्तस्यानिषेधादनिवारणात्। "अविशेषणे द्वौ चास्मदः" (सिद्ध० २-२-१२२) इत्येकत्रार्थेऽपि बहुत्वम्। अयं भावः—मम पत्याऽह स्वीकृत्य परिहृतेत्यन्यायः कृतः, स श्रीकृष्णेन राज्ञा न निषिद्ध। अतः "राज्ञि राष्ट्रकृतं पाप राज्ञः पाप पुरोहिते। भर्त्तरि स्त्रीकृतं पापं शिष्यपाप गुरोर्भवेत्॥" इति न्यायात्कृष्णस्य पापं लग्नमिति। 'अम्य.' अम्बुदोऽस्माकं 'विप्रयोगे' वियोगे 'अग्निसर्गात्' अग्निरिवाग्निर्मनस्तनुसतापकत्वाद्दु.खसभारस्तस्य सर्गात्सृष्टेः। वर्षासु घनोन्नतौ विरहिणा महादुःखोत्पत्तिः। यतः—"स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः। कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे वैदेही तु कथ भविष्यति हहा हा देवि! धीरा भव॥" इति काव्यश्रवणात्। किंविशिष्टे विप्रयोगे? 'गहनगाहने' गहनं कान्तारं तद्वद्गहनो दुर्गमः। ततोऽग्नेऽपि गहनो विरहस्तत्र पुनरपि प्रियस्मारणरणरणकादिना दुःखवर्द्धनं क्षते क्षारक्षेपवन्महापापाय, यथा कोऽपि वने पतितानाममिदानं करोति तस्य महापापम्। अत्र

समुच्चयकाव्यलिङ्गपरिकरानुप्रासाः । यथा—"समुच्चयोऽसौ स त्वन्यो युगपद् या गुणक्रियाः ॥" (का० प्र० १०, ११६) "काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता ॥" (का० प्र० १०, ११४) देशप्रभुरिति अभिनव इति साभिप्रायैर्विशेषणैः परिकरः ॥ ५ ॥

नीलीनीले शितिलपनयन् वर्षयत्यश्रु वर्षन्
गर्जत्यस्मिन् पटु कटु रटन् विद्यत्यौष्ण्यमिश्रत् ।
वर्षास्वेवं प्रभवति शुचे विप्रलब्धोऽम्बुवाहे
वामावर्गः प्रकृतिकुहनः स्पर्धतेऽनेन युक्तम् ॥ ६ ॥

'विप्रलब्धः' वियोगवान् 'वामावर्गः' स्त्रीवर्गो वर्षासु 'एवं' वक्ष्यमाणेन प्रकारेणानेन मेघेन युक्तं स्पर्द्धते । किंरूपो वामावर्गः? 'प्रकृतिकुहनः' प्रकृत्या कुहन ईर्ष्यालुः । किं कुर्वन्? 'अस्मिन्' अम्बुवाहे 'नीलीनीले' सति गुलिकाश्यामवर्णे सति 'शितिलपनयन्' शिति श्यामं लपनं मुखं करोतीति । पुनः किं कुर्वन्? 'वर्षयति' वृष्टिं कुर्वति अश्रु वर्षन् । अस्मिन् गर्जति सति 'पटु' पटिष्ठं 'कटु' श्रवणासुखदं तीव्रं 'रटन्' विलपन् । अस्मिन् 'विद्यति' विद्युतं द्योतयति 'औष्ण्यं' उष्णभावं 'इयन्' प्राप्नुवन् । किंविशिष्टेऽम्बुवाहे? 'शुचे' शोकाय प्रभवति सति । अन्योऽपि यो येन स्पर्द्धते स तस्य चेष्टामनुकरोति, अतो यदा वर्षुको मेघः कालतां कलयति, यतः— "रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः । वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवं प्रायाः पयोमुचः ॥" तदा वामावर्गोऽपि कृष्णं मुखं करोति । यदा वर्षति तदाऽश्रु वर्षति । यदा गर्जति तदा गाढं प्रलपति । यदा च विद्युतं प्रकाशयति तदोष्णनिःश्वासान् मुञ्चति । वर्षासु कालत्वादिभावैर्विशिष्टमुन्नतं मेघं वीक्ष्य विरहिणीवर्गः कालमुखत्वादिकं दधाति, तच्च स्पर्द्धारूपेणात्र विशिष्यते । शिति च तल्लपनं च शितिलपनं तत्करोतीति "णिज् बहुलं नाम्नः कृगादिषु" (सि० ३–४–४२) णिच्प्रत्ययः, पश्चात् शतृ । वृपू सेचने, वृष्, वर्षणं वर्ष

"वर्षादयः क्लीबे" (सि० ५–३–२९) अल्प्रत्ययः। वर्षं करोतीति "णिज् बहुल–" (सि० ३–४–४२) णिच्, पश्चात् शतृ। विद्युत करोतीति "णिज् बहुल–" (सि० ३–४–४२) णिच्-प्रत्ययः। "त्र्यन्त्यस्वरादेः" (सि० ७–४–४३) अन्त्यस्वरादेः उल्लोपः। विद्यतीति वर्तमाने। उष्णस्य भाव औष्ण्यं "पतिराजान्तगुणाङ्गराजादिभ्यः कर्म्मणि च" (सि० ७–१–६०) ट्यण्-प्रत्ययः। ऋक् गतौ, ऋ, इयर्तीति इयन्। वर्त्तमाने "शत्रा-नशौ–" (सि० ५–२–२०) शतृप्रत्ययः। "हव शिति" (सि० ४–१–१२) द्विर्वचनम्। "ऋतोऽन्" (सि० ४–१–३८) ऋकारस्य अ। "पृभृमाहाङामिः" (सि० ४–१–५८) इत्वम्। "पूर्वस्यास्वे स्वरे योरियुव्" (सि० ४–१–३७) इय्। "इवर्णादेरस्वे–"(सि० १–२–२१) रत्व, प्रथमा सि। "ऋदुदितः" (सि० १–४–७०) नोऽन्तः। "अन्तो नो लुक्"(सि०४–२–९४)नलुक्। अत्र निदर्शनापरिकरसमुच्चयानुप्रासाः। तत्र निदर्शनाया लक्षणम्—"निदर्शना। अभवन वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः॥ स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रियैव च साऽपरा। अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया॥ कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति। तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुलस्येति च पञ्चधा॥" (का० प्र० १०, ९७–९९) अत्र विरहिणीना विरहविशेषे प्रस्तुते सति तदन्यमेघस्य वचः॥ ६॥

हेतोः कस्मादहिरिव तदाऽऽसङ्गिनीमप्यमुञ्च-
न्मां निर्मोकत्वचमिव लघुं ज्ञोऽप्यसौ तन्न जाने।
यद्वा दैवे दधति विमुखीभावमाप्तोऽप्यमित्रे-
त्तर्णस्य स्यात्किमु नियमने मातृजङ्घा न कीलः॥ ७॥

'असौ' भगवान्नेमि. 'ज्ञोऽपि' निपुणोऽपि अहिरिव 'कस्माद्धेतो.' कुतः कारणान्मा निर्मोकत्वचमिवामुञ्चत् 'तत्' कारणमहं 'न जाने' न वेद्मि। यथा—'अहिः' सर्पः कस्माद्धेतो. 'निर्मोकत्वचं' कञ्चुलिका

मुञ्चति तन्न ज्ञायते। किंविशिष्टा मा निर्मोकत्वच च? 'तदासञ्जिनीमपि' त नाथमासञ्जामीत्येवशीला ताम्, पक्षे त सर्प आसजती-त्येवशीला ता तदासक्तमपीत्यर्थः। पुन· किंविशिष्टा मां? 'लघु' लघ्वीम्, पक्षेऽल्पभाराम्। 'यद्वा' इत्युत्तरार्द्धम्। 'यद्वेति' हेतुज्ञाने। दैवे 'विमुखीभाव दधति' सति प्रतिकूले सति 'आप्तोऽपि' अवञ्च-कोऽपि 'अमित्रेत्' अमित्रमिवाचरेत् शत्रुर्भवतीत्यर्थः। एतत्समर्थ-नायाह—'तर्णस्य' वत्सस्य 'नियमने' बन्धने 'मातृजङ्घा' गोजङ्घा किमु कीलो न स्यात्? अपि तु स्यादेव। किल गोष्ठेषु दोग्धारः स्तन्य पिबन्त वत्सक गोजङ्घाया बद्ध्वा गोदोह कुर्वन्तीति स्थितिः। अत्र यथा गौर्वत्सलापि विधिवशान्निजवत्सस्यैव जङ्घाद्वारेण बन्धहे-तुर्भवति तथाऽसावपि भगवानाप्तोऽपि दैवप्रातिकूल्यान्मा मुक्तवानि-त्यर्थः। अत्राहिरिवेति निर्मोकत्वचमिवेत्युपमा। लघुमित्यादि श्लेषः। ह्रीऽपीति विरोधः। न जाने इति निषेधः। यद्वेत्यर्थान्त-रन्यासः। तत्र—"विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः।" (का० प्र० १०, ११०) "निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभि-धित्सया॥" (का० प्र० १०, १०६) इति। "सामान्य वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते। यत्र सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणे-तरेण वा॥" (का० प्र० १०, १०९) इति। अथवा तर्णस्ये-त्यादि स्वभावोक्तिः। "स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्ण-नम्॥" (का० प्र० १०, १११) इत्यादि॥ ७॥

तप्ताश्मेव स्फुटति हि हिरुक् प्रेयसो हृन्ममैत-
त्कारुण्यार्णवमुपतद् प्रेषयाम्यब्दमेतम्।
मन्दं मन्दं स्वयमपि यथा सान्त्वयत्येष कान्तं
मत्सन्देशैर्दवमिव दवप्लुष्टमुत्सृष्टतोयैः॥ ८॥

एतन्मम 'हृत्' हृदय 'हि' स्फुट 'प्रेयसो हिरुग्' वल्लभ विना 'तप्ताश्मेव' तप्तपाषाण इव 'स्फुटति' विदीर्यते। 'तत्' तस्मात्कार-

णावृह 'एत' पुरतो दृश्यमानं 'अब्दं' मेघं 'उपतदं' तस्य प्रेयसः समीपे प्रेषयामि । किंविशिष्टमब्दम्? 'कारुण्यार्णव' कृपासमुद्रम् । यथा 'एष.' अब्द. 'सत्सन्देशैः' मम वाचिकैः स्वयमपि मन्द मन्द 'कान्तं' प्रेयास 'सान्त्वयति' सामप्रयोगपूर्वक शमयति । कमिव? दवमिव, यथैष मेघः 'उत्सृष्टतोयैः' मुक्तजलैः 'दवप्लुष्ट' दवानल-दग्धं दव वन सान्त्वयति शमयति । अत्र द्विरुक्तिनार्थे । प्रेयस इति "शेषे" (सि० २–२–८१) षष्ठी । उपतदमित्यत्र तस्य समीपमुपतद "शरदादेः" (सि० ७–३–९२) इति समासान्तोऽ-न्प्रत्ययः । पश्चाद् "विभक्तिसमीपसमृद्धि–" (सि० ३–१–३९) इत्यादि सूत्रेणाव्ययीभावसमास. । ततः सप्तमीङिप्रत्ययस्य "सप्तम्या वा" (सि० ३–२–४) इति सूत्रेणाम् । अत्रोपमारूपकानुप्रासाः । अत्र रुष्टमिति कान्तस्य विशेषणमनुक्तमपि ज्ञेयम्, अन्यथा सान्त्वनायोगात् । तेन हीनपदत्व नाम नालङ्कारदोषश्चिन्त्यः ॥८॥

ध्यात्वैवं सा नवघनघृता भूरिवोष्मायमाणा
　　युक्तायुक्तं समदमदनावेशतोऽविन्दमाना ।
अस्रासार पुरु विसृजती वारि कादम्बिनीव
　　दीना दुःखादथ दकमुचं मुग्धवाचेत्युवाच ॥ ९ ॥

'अथ' अनन्तर 'सा' राजीमती 'दकमुच' मेघं 'मुग्धवाचा' मनोहरवचनेनेति वक्ष्यमाणयुक्त्या उवाच । किं कृत्वा? 'एवं' पूर्वो-क्तप्रकारेण ध्यात्वा । किंविशिष्टा सा? 'नवघनघृता भूरिवोष्माय-माणा' नवश्चासौ घनश्च नवघनः, नवघनेन घृता सिक्ता नवघन-सिक्तेति । ऊष्मायमाणा ऊष्माण बाष्पमुद्वमन्ती । पुनः किंवि-शिष्टा सा? 'समदमदनावेशतो युक्तायुक्तमविन्दमाना' प्रमोदमोहस-म्भेदो मद उच्यते । तत्रायं मेघो मत्सन्देशैः प्रिय सान्त्वयिष्य-तीति प्रमोदः, मोहः पुंसमूढता, तयोः सम्भेद. सङ्गमो मदस्तेन सह वर्तते यो मदनस्तस्यावेशः संरम्भस्तस्माद्युक्तं चायुक्तं च न

लभमाना । अन्योऽपि समदाया मदनाया मदिराया आवेशाद्यु-क्तायुक्त न विन्दति । पुन· किंविशिष्टा ? 'पुरु' प्रभूतं यथा भवति 'अस्रासार' अस्राणामश्रूणामासार वेगवन्त वर्षं 'विसृजती' विशेषेण कुर्वती । किंवत् ? 'कादम्बिनीवत्' यथा कादम्बिनी मेघ-माला पुरु यथा भवति 'वारि' पानीयं विसृजति । किंविशिष्टा सा ? दु·खादीना । अत्र घृतेति गृघृ सेचने इति धातो· क्तप्रत्यये सति । ऊष्मेति ऊष्मन् उष्माणमुद्वमति "फेनोष्मबाष्पधूमादुद्वमने" (सि० ३–४–३३) इति क्यङ् । "नाम्नोनोऽनह्न·" (सि० २–१–९१) नलोपः । "दीर्घश्चियङ्यक्क्येषु च" (सि० ४–३–१०८) इति दीर्घ । ऊष्मायते इति आनश् । अविन्दमानेति विदृती लाभे इति धातो आनशि "तुदादे· श·" (सि० ३–४–८१) शप्रत्यये "मुचादितृफदृफगुफशुभोऽभः शे" (सि० ४–४–९९) नोऽन्त· । शेष स्पष्टम् । अस्त्रशब्दोऽकारान्तोऽस्ति । अत्रोपमानुमानानुप्रासाः । युक्तायुक्ताविचारणे साध्ये मेघ प्रति भाषण साधनम्, यथा राजीमती युक्तायुक्ताज्ञा मेघ प्रति भाषणान्यथानुपपत्ते· ॥ ९ ॥

अथ सा मेघ प्रति यज्जजल्प तत्प्रारभ्यते—

कच्चिद्धाराधर ! तव शिवं वार्त्तशाली च देहः
सेवेते त्वां स्तनिततडितौ राजहंसौ सरोवत् ।
अव्याबाधा स्फुरति करुणा वृष्टिसर्गे निसर्गा-
न्मार्गे दैव्ये गतिरिव रवेः स्वागतं वर्तते ते ॥ १० ॥

'कच्चिदिति' अभीष्टप्रश्ने । हे 'धाराधर' हे मेघ ! तव 'शिव' कुशल वर्तते ? । 'च' अन्यत्तव देहो 'वार्त्तशाली' वर्त्तते ? वार्त्तमारोग्य तेन शाली शोभमानः । 'स्तनिततडितौ त्वा' गर्जितविद्युतौ भवन्तं सेवेते । किंवत् ? 'सरोवत्' यथा सरो 'राजहंसौ' राजहंसश्च राजहंसी च सेवेते । हे मेघ ! ते तव 'वृष्टिसर्गे' वृष्टिविधाने 'निसर्गात्' स्व-भावात् 'अव्याबाधा' अवग्रहाद्यन्तरायरहिता करुणा स्फुरति ।

कस्येव ? 'रवेरिव' यथा रवेः सूर्यस्य गति 'दैव्ये मार्गे' आकाशमार्गेऽव्याबाधा स्फुरति । 'ते' तव 'स्वागत' सुखागमन वर्तते ? । राजहंसावित्यत्र "पुरुषः स्त्रिया" (३-१-१२६) इति पुरुषशेष, राजहंसीशब्दलोपः । दैव्ये देवानामय दैव्यः, "देवाद् यञ्च" (सि० ६-१-२१) इति यञ् । अत्र दैव्ये मार्गे इत्याकाशवाचकत्वं सुरपथ इति प्रसिद्धेः । अत्रोपमापर्यायोक्तस्वभावोक्त्यनुप्रासाः । अव्याबाधेत्यादेः तव वृष्टेरन्तरायो नास्तीत्यर्थस्य पर्यायेण कथनात् तत्पर्यायोक्तम् । "पर्यायोक्त विना वाच्यवाचकत्वेन वस्तु यत् ।" (का० प्र० १०, ११५) ॥ १० ॥

अथ येन किमपि कार्यं कारयितु चिन्त्यते, तस्य पूर्वं वर्णन विधीयते इति राजीमत्यपि मेघ वर्णयति—

विश्वं विश्वं सृजसि रजसः शान्तिमापादयन् यः
　सङ्कोचेन क्षपयसि तमःस्तोममुन्निह्नुवानः ।
स त्वं मुञ्चन्नतिशयनतस्त्रायसे धूमयोने!
　तद्देवः कोऽप्यभिनवतमस्त्वं त्रयीरूपधर्त्ता ॥ ११ ॥

हे 'धूमयोने !' हे मेघ ! यस्त्व 'रजसः' रेणोः शान्तिं 'आपादयन्' उत्पादयन्नर्थात्पृथिवीं सिञ्चन् 'विश्व' समस्त 'विश्व' जगत् 'सृजसि' निष्पादयसि । जलस्य साक्षात्सृष्ट्या तृणधान्यलतावृक्षादीना तदुद्भवत्वेन तिर्यग्पक्षिमनुष्यादीना तृणादिभ्यो वृद्ध्या जनस्य साक्षात्पारम्पर्येण च जगत्स्रष्टृत्व रूढ्या न विरुद्धमिति । यस्त्व 'सकोचेन' अभावलक्षणेन 'तमस्तोम' अन्धकारसमूह 'उन्निह्नुवानः' सन् उत्प्राबल्येन निह्नुवानः स्फेटयन् सन्, अर्थादवर्षन् विश्व विश्व 'क्षपयसि' क्षय नयसि संहरसीत्यर्थः । मेघस्य सङ्कोचे दुर्दिनाभावस्तदभावाच्च विश्वक्षयः, अवृष्ट्या तावज्जलस्य साक्षात्क्षयः, तत्क्षयाच्च सकललोकक्षय इति साक्षात्पारम्पर्येण च घनस्य संहर्तृत्वमपि न विरुद्धम् । यस्त्व 'अतिशयनतः' अत्यर्थं नम्रः स त्व लोकरूढ्या गुडूचीसत्त्ववत्

सार जल मुञ्चन् विश्वं विश्वं 'त्रायसे' पालयसि । धाराधरश्चेत् सरलधाराधोरणीभिर्जलं मुञ्चति तदा राजानोऽपि प्रजा रक्षन्ति, सर्वे वर्णाः स्वस्वमर्यादा न त्यजन्ति, मातापितरौ सस्नेहमपत्यानि पुष्णन्ति, धर्मकर्माचारव्यवहारव्यवसायसौजन्यसौहार्दादीनि सर्वकार्याणि प्रवर्त्तन्त इति घनस्य पालकत्वमपि न निषेध्यम् । 'तत्' तस्मात्कारणात् त्वं 'अभिनवतमः' अत्यन्तनवीनः कोऽपि त्रयीरूपधर्त्ता देवो वर्त्तसे । अयं भाव·—लोके परमेश्वरस्त्वेकोऽपि सृष्ट्यादित्रयं करोतीति कविरूढिर्वर्त्तते। यतो रघुः—"नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्व तदनु बिभ्रते । अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधात्मने नम ॥" परमपरस्त्रयीरूपधर्त्ता देवो विषयाभिष्वङ्गरूपस्य रजसो रजोगुणस्य वृद्धिमुत्पादयन् ब्रह्मरूपेण विश्व सृजति । तथा क्रोधरूप तमोगुण वर्द्धयन् रुद्ररूपेण विश्व क्षपयति । तथा पुण्येच्छारूप सत्त्वगुण स्वीकुर्वन् विश्व त्रायते । अतिशयेनान्यैश्च नम्यते । अयोनिश्च प्रोच्यते । त्वं पुन· प्रोक्तयुक्त्या एतद्वैलक्षण्येन विश्वसर्गादिषु प्रवर्त्तसे, अतिशयेन नमसि, धूमाद्योत्पद्यसे, इति कोऽपि नवीनस्त्व त्रयीरूपधर्त्ता देव इति । अत्रानुप्रासश्लेषव्यतिरेकपर्यायोक्तदीपकोदात्ताद्यलङ्काराः । तत्र त्रयीरूपोपमानादुपमेयस्याधिक्यप्रतिपादनाद्व्यतिरेकः । "उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेक. स एव सः ।" (का० प्र० १०, १०५) इति । रजस· शान्तिमापादयन् सङ्कोचेनेत्यादिना पृथ्वीसेचनावर्षणलक्षणार्थपर्यायकथनात्पर्यायोक्तम् । बह्वीषु क्रियास्वेककर्तृत्वाद्दीपकम् । मेघस्य सर्वलोकविख्यातदेवत्रयीतोऽप्याधिक्यप्रतिपादनेनोदात्तम्, "उदात्त वस्तुनः संपत्" (का० प्र० १०, ११५) इति ॥ ११ ॥

अथ विभक्तिसप्तकप्रयोगेण मेघस्तवनाय वृत्तद्वयमाह—

त्वं जीमूत! प्रथितमहिमानन्यसाध्योपकारैः
कस्त्वां वीक्ष्य प्रकृतिसदृशौ स्वे दृशौ नो विधत्ते ।

दानात्कल्पद्रुमसुरमणी तौ त्वयाऽधोऽक्रियेतां
कस्तुभ्यं न स्पृहयति जगज्जन्तुजीवातुलक्ष्म्यै ॥ १२ ॥
कामं मध्येभुवनमनलङ्कारकान्ता अनु त्व-
न्मत्तस्येव स्मरति च तथागोपगोपं जनोऽयम् ।
न्यासीचक्रे भवति निखिला भूतसृष्टिर्विधात्रा
तत्त्वां भावे किमपि करुणाकेलिपात्रावधेहि ॥ १३ ॥

हे 'जीमूत!' हे मेघ! त्वं 'अनन्यसाध्योपकारैः प्रथितमहिमा' वर्त्तसे, न अन्यैः समुद्रादिभिरपि साध्या अनन्यसाध्या उपकाराः सचराचरजीवलोकसेचनभीष्मग्रीष्मातपोपशमनसकलतृणधान्यनिष्पादनादयस्तैः प्रथितो विख्यातो महिमा यस्येति। कः पुमान् त्वा वीक्ष्य खे दृशौ प्रसृतिसदृशौ नो विधत्ते?। कुब्जित. पाणिः प्रसृतिरुच्यते। तौ कल्पद्रुमसुरमणी त्वया दानादधोऽक्रियेतां जिताविस्यर्थः। तास्तौ सर्वलोकप्रसिद्धौ त्वया। कः पुमास्तुभ्य न स्पृहयति?। किंविशिष्टाय तुभ्यम्? 'जगज्जन्तुजीवातुलक्ष्म्यै' जगज्जन्तूना जीवातुर्जीवनौषध लक्ष्म्यो गर्जितविद्युज्जलादिका यस्य तस्मै। लक्ष्मीशब्दस्य बहुत्वे वर्त्तमानत्वात् "पुमनडुन्नौपयोलक्ष्म्या एकत्वे" (सि० ७–३–१७३) इत्यनेन कच्। तथा ङ्यन्तत्वाभावात् "गोश्चान्ते ह्रस्वोऽनशिस–" (सि० २–४–९६) इत्यादिना ह्रस्वो न। ततः पुलिङ्गविशेषणत्वेऽपि लक्ष्मीशब्दस्य स्त्रियां वर्तमानत्वेन चतुर्थ्येकवचनस्य "स्त्रीदूतः" (सि० १–४–२९) इति दैआदेशे लक्ष्म्यै इति प्रयोगः। प्रसृतिसदृशावित्यत्र "त्यदाद्यन्यसमानादुपमानाद्व्याप्ये दृशष्टक्सकौ च" (सि० ५–१–१५२) इति क्विप्। सदृशशब्दो व्यञ्जनान्तः। तुभ्यमित्यत्र "स्पृहेर्व्याप्यं वा" (सि० २–२–२६) इति चतुर्थी। अत्रोदात्तस्वभावोक्त्यनुप्रासाः ॥१२॥ काममिति। हे मेघ! 'मध्येभुवन' भुवनस्य मध्ये 'अनलङ्कारकान्ता' अलङ्कार विना कान्ताः सुभगाः 'त्वदनु' भवतः पश्चात्। त्वदिति "प्रभृत्यन्यार्थदिक्शब्द-

बहिरारादितरैः" (सि० २–२–७५) इति पञ्चमी । 'आगोपगोप' अयं जनस्तव मन्त्रस्येव स्मरति । यथा मन्त्र स्मर्यते तथेत्यर्थः । गा पृथ्वीं पातीति गोपो राजा, गाः पशून् पातीति गोपो गोपालः, गोपाश्च गोपाश्च गोपगोपा., आङ्मर्यादायाम्, गोपगोपेभ्य आ आगोपगोप आगोपालभूपालमिति । 'विधात्रा' ब्रह्मणा निखिला 'भूतसृष्टि.' प्राणिसृष्टि. 'भवति' त्वयि 'न्यासीचक्रे' निहिता त्वय्यायत्तीकृता, त्व चेज्जीवयसि तदा जीवति नान्यथा इत्यर्थ । यथान्योऽपि विश्वासार्हे वस्तु न्यासीकरोति । यतस्त्वमेव परोपकाराद्यनणुगुणैरसाधारणः 'तत्' तस्मात्कारणादह त्वा किमपि 'भाषे' वच्मि । हे करुणाकेलिपात्र 'अवधेहि' सावधानो भव । मध्येभुवनमिति भुवनस्य मध्ये मध्येभुवन "पारे मध्येऽग्रेन्तः षष्ठ्या वा" (सि० ३–१–३०) इत्यव्ययीभाव । तव मन्त्रस्येवेति "स्मृत्यर्थदयेशः" (सि० २–२–११) इति कर्मस्थाने षष्ठी । आगोपगोपमिति "पर्यपाङ्बहिरच् पञ्चम्या" (सि० ३–१–३२) इति पञ्चम्यन्तोऽव्ययीभावः । अत्र विभावनोपमानपर्यायालङ्काराः । अनलङ्कारेत्यत्र विभावना, "क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ॥" (का० प्र० १०,१०७) भूतसृष्टेर्न्यासीकरणेन दु.खिताया ममापि हित तव कर्तुं योग्यमिति पर्यायकथनात्पर्यायोक्तम ॥१३॥

मेघस्याग्रे राजीमती स्वस्वरूपप्रस्तावनार्थं श्रीनेमिचरित मूलादाह—

> श्रीमान् वंशो हरिरिति परां ख्यातिमापत्क्षितौ य-
> स्तस्मिन् मूर्ता इव दश दिशां नायका ये दशार्हाः ।
> तेषामाद्यः क्षितिपतिगुरु. श्रीशिवाप्रेयसी च
> प्राज्ञो द्वैधं सुकृतविजयी सुप्रजाः श्रीसमुद्रः ॥ १४ ॥

यः श्रीमान् वशः 'क्षितौ' पृथिव्यां हरिरिति परां 'ख्याति' प्रसिद्धि 'आपत्' हरिवश इति प्रसिद्धो बभूवेत्यर्थः । 'तस्मिन्'

वशे 'मूर्त्ता·' मूर्तिमन्तः 'दिशां नायका·' दिक्पाला इव ये दश दशार्हाः, वर्त्तन्ते इत्यध्याहार· । 'च' अन्यत् 'तेषां' दशार्हाणां 'आद्य' प्रथम. श्रीसमुद्रोऽस्ति । किंविशिष्टः ? 'क्षितिपतिगुरुः' क्षितिपतिषु नृपेषु गुरुः श्रेष्ठः । पुन किंविशिष्टः ? श्रीशिवाप्रेयसी' श्रीशिवादेवी नाम्नी प्रेयसी पत्नी यस्यासौ श्रीशिवाप्रेयसी । ईयो बहुव्रीहित्वाद् "गोश्चान्ते ह्र–"(सि० २–४–९६) इत्यादिना न ह्रस्व· । तत "दीर्घङ्याब्व्यञ्जनात्सेः" (सि० १-४-४५) सिलोप एव । पुन. किंविशिष्टः ? 'प्राज्ञः' निपुणः, अथवा प्रकृष्टा आज्ञा यस्य स तथा । 'द्वैध' द्वाभ्या प्रकाराभ्या 'सुकृतविजयी' सुकृतेन पुण्येन विजयी विजयवान् धर्मविजयीत्यर्थः । पक्षे सुष्ठु आनुकूल्येन कृतः सुकृत , सुकृतो विजयो विजयशब्दो विद्यते यस्य श्रीसमुद्रशब्दस्य स तथा श्रीसमुद्रविजय इत्यर्थ । द्वैध 'सुप्रजा' शोभना प्रजाः लोक सन्ततिर्वा यस्य स । "प्रजाया अस्" (सि० ७–३–१३७) इत्यनेन सुप्रजस् जातम् । द्वैध श्रीसमुद्रः श्रिया समुद्रो यद्वा श्रीसमुद्र इति नाम । अत्रोत्प्रेक्षारूपकश्लेषानुप्रासाः ॥ १४ ॥

सारस्वप्नैर्मनुपरिमितैः सूचितस्तस्य सूनुः
श्रीमान्नेमिर्गुणगणखनिस्तेजसां राशिरस्ति ।
यं द्वाविंशं जिनपतिमिह क्षोणिखण्डे प्रबुद्धा
दिव्यज्ञानातिशयकलिताशेषवस्तुं दिशन्ति ॥ १५ ॥

'तस्य' श्रीसमुद्रस्य सूनु· श्रीमान्नेमिरस्ति । किंविशिष्टः ? मनुपरिमितैः सारस्वप्नै· 'सूचितः' कथित· । मनवश्चतुर्दश तत्परिमितैश्चतुर्दशभिरिति । पुनः किंविशिष्टः ? 'गुणगणखनिः' गुणगणाना खनिरिव गुणगणखनि । तेजसा राशिः समूह इव । 'इह क्षोणिखण्डे' 'प्रबुद्धा·' विद्वास· 'य' भगवन्त द्वाविंश जिनपतिं 'दिशन्ति' कथयन्ति । किंविशिष्ट यम् ? 'दिव्यज्ञानातिशयकलिताशेषवस्तुं' दिव्य. स्वर्गसम्बन्धी प्रधानो वा यो ज्ञानातिशयस्तेन· कलितान्य-

शेषाणि वस्तुनि येन स तम् । अत्र यद्यपि भगवतोऽवधिज्ञानित्वेन तदा गार्हस्थ्येऽशेषवस्तुज्ञानं नास्ति तथापि "भाविनि भूतवदुपचारः" इत्यजिह्मब्रह्मलीलानिस्तुषवैराग्योन्मेषमुख्यकारणैरवश्यंभावितया सर्वलोकेभ्योऽप्यधिकतया च तस्य सर्वज्ञत्वमेव प्रत्यक्षं विवक्षितम् । द्वाविंशमत्र द्विविंशतिः । द्वौ च विंशतिश्च द्वाविंशतिः, "द्व्यष्टानां द्वात्रयोऽष्टाः प्राक्शतादनशीतिबहुव्रीहौ" (सि० ३-२-९२) द्वा आदेशः । द्वाविंशतेः पूरणो द्वाविंशः "सङ्ख्यापूरणे डट्" (सि० ७-१-१५५) "विंशतेस्तेर्डिति" (सि० ७-४-६७) तिलोपः । "डित्यन्त्यस्व-" (सि० २-१-११४) । अत्र रूपकभाविकानुप्रासाः । दिव्यज्ञानेति भाविके, "प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः । तद्भाविकम्" । (का०प्र० १०, ११४) इति॥१५॥

यस्य ज्ञात्वा जननमनघं कम्पनादासनाना-
माख्यां तासामिव न सहतां पूज्यपूजाक्षणेऽस्मिन् ।
दिक्कन्याः षट्शरपरिमिताः साङ्गजायाः सवित्र्याः
सम्यक् चक्रुः कनककदलीसद्मगाः सूतिकर्म ॥ १६ ॥

षट्शरपरिमिताः 'दिक्कन्याः' दिक्कुमार्यः आसनानां कम्पनाद् 'यस्य' भगवतः 'अनघं' निष्पापं 'जननं' जन्म ज्ञात्वा 'साङ्गजायाः' सपुत्रायाः 'सवित्र्याः' मातुः सम्यक् सूतिकर्म चक्रुः । शराः पञ्च "अङ्कानां वामतो गतिः" इति गणनात् षट्शरेति षट्पञ्चाशत् । किंविशिष्टानामासनानाम्? उत्प्रेक्ष्यते—'अस्मिन्' विवक्षिते पूज्यपूजायाः क्षणे प्रस्तावे 'तासां' दिक्कन्यानां 'आस्यां' उपवेशनं न सहतामिव । अस्मिन् पूज्यपूजाक्षणे एताः उपविश्य कथं स्थिताः सन्ति? इत्यसहमानानीवासनानि कम्पितानीति भावः । किंविशिष्टा दिक्कन्याः? 'कनककदलीसद्मगाः' सुवर्णरम्भागृहगताः । सहतामित्यत्र षहण् मर्षणे इति चौरादिकधातुः । "युजादेर्न वा" (सि० ३-४-१८) इति णिविकल्पः । अत्रोत्प्रेक्षास्वभावोक्त्यनुप्रासाः ॥१६॥

जन्मे यस्य त्रिजगति तदा ध्वान्तराशेर्विनाशः
प्रोद्योतश्चाभवदतितरां भास्वतीवाभ्युदीते ।
अन्तर्दुःखोत्करमुरु सुखं नारका अप्यवापुः
पारावारे विरससलिले स्वातिवारीव शुक्ताः ॥ १७ ॥

'तदा' तस्मिन् काले 'यस्य' भगवतः 'जन्मे' जाते सति ध्वान्तराशेर्विनाशः 'च' अन्यत् 'अतितरां' अत्यर्थं 'प्रोद्योतः' प्रकाशश्चाभवत् । कस्मिन्निव ? 'भास्वतीव' यथा भास्वति सूर्येऽभ्युदीते सति ध्वान्तराशेर्विनाशो भवति प्रोद्योतश्च । नारका अपि 'अन्तर्दुःखोत्करं' दुःखोत्करस्य मध्ये 'उरु' गुरुतरं सुखं 'अवापुः' प्राप्ताः । का इव ? 'शुक्ता इव' यथा शुक्ताः 'विरससलिले' क्षारनीरे 'पारावारे' समुद्रे 'स्वातिवारि' स्वातिनक्षत्रसंबन्धि वारि जलं प्राप्नुवन्ति । जन्मशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति । अभ्युदीते इत्यत्र ईङ्च् गतौ, ईङ्धातुः अभि उत्पूर्वः क्तप्रत्ययान्तः । दुःखोत्करस्यान्तरन्तर्दुःखोत्करम्, "पारे मध्येऽग्रेऽन्तः षष्ठ्या वा" (सि० ३–१–३०) इति समासः । अत्र पर्यायविरोधोपमानानि । "एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायोऽन्यस्ततोऽन्यथा ।" (का० प्र० १०, ११७) अन्तर्दुःखोत्करमित्यत्र विरोधो द्रव्यगुणयोः ॥ १७ ॥

भक्तिप्रह्वा भवनपतयो विंशिनो व्यन्तरेन्द्रा
द्वात्रिंशच्चोपनव तिविषाधीशितारो रवीन्दू ।
सङ्गत्य स्वःशिखरिशिखरे ते चतुःषष्टिरिन्द्रा
जन्मस्नात्रोत्सवमतिहरि स्वामिनो यस्य तेनुः ॥ १८ ॥

ते चतुःषष्टिरिन्द्राः 'स्वःशिखरिशिखरे' स्वः स्वर्गस्तस्य शिखरी मेरुस्तस्य शिखरे शृङ्गे 'सङ्गत्य' मिलित्वा यस्य स्वामिनो जन्मस्नात्रोत्सवं 'अतिहरि तेनुः' विस्तारयामासुः, हरीणामिन्द्राणां ख्यातिर्यथाभवतीत्यतिहरि, इन्द्राणां यादृशः कृतो ज्ञायते तादृशः कृत इत्यर्थः । ते के ? 'विंशिनः' विंशतिमात्राः 'भवनपतयः' असुरकु-

मारप्रमुखेन्द्राः 'च' अन्यद् द्वात्रिंशद् व्यन्तरेन्द्रा 'उपनव' दश 'तिविषाधीशितार.' तिविषस्य स्वर्गस्याधीशितार· स्वामिनो वैमानिकदेवेन्द्राः 'रवीन्दू' सूर्यचन्द्रौ । किंविशिष्टा·? 'भक्तिप्रह्वा·' भक्तौ प्रह्वाः परायणा· । विंशिन इति विंशतिर्मानमेषा त्रिंशिनः, "डिन्" (सि० ७–१–१४७) इति डिन्प्रत्यय·, इन्, "विंश तेस्तेर्डिति" (सि० ७–४–६७) तिलोपः । उप समीपे नव येषा येभ्यो वा उपनव, "अव्ययम्" (सि० ३–१–२१) इत्यनेन बहुव्रीहिः । अत्र यद्यपि उपनवशब्देनाष्टौ दश च लभ्यते परमत्र दशसंख्यया प्रयोजनमिति दशसंख्यार्थो गृहीत । अतिहरीत्यत्र "विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययाऽसंप्रतिपश्चात्क्रमख्यातियुगपत्सदृक्सम्पत्साकल्यान्तेऽव्ययम्" (सि० ३–१–३९) इत्यव्ययीभावः । अत्रानुप्रासस्वभावोक्त्युदात्ता· ॥ १८ ॥

उच्चस्थानं दुद्रुवुरिव यं द्रष्टुकामा ग्रहास्ते
स्वस्यामान्तःकरणकरणैः काममाशाः प्रसेदुः ।
रत्नस्वर्णप्रकरममराः सौधपूरं त्ववर्षन्
विश्वे लोकाः प्रमदमदधुर्यस्य पुण्येऽवतारे ॥ १९ ॥

'यस्य' भगवत. 'पुण्ये' पवित्रेऽवतारे ग्रहा 'उच्चस्थान' उच्चभवन उच्चांश वा 'दुद्रुवु.' गता· । "अजवृषमृगाङ्गनाकर्कमीनवणिजांशकेष्विनाद्युच्चाः । दशशिख्यष्टाविंशतितिथीन्द्रियत्रिघनविंशेषु ॥" इति ग्रहाणामुच्चभवनानि । उत्प्रेक्ष्यते–'य' भगवन्त 'द्रष्टुकामा इव' द्रष्टु कामोऽभिलाषो येषा ते द्रष्टुकामाः, "तुमश्च मनःकामे" (सि० ३–२–१४०) इति मलोप । अन्योऽपि यः किञ्चिद्दिदृक्षुः स्यात् स उच्चस्थानमधिरोहति । 'आशाः' दिशः 'स्वस्य' ज्ञातेः 'अन्तःकरणकरणैः' अन्त·करण चित्त करणानीन्द्रियाणि तैः 'अमा' सह 'कामं' अत्यर्थं 'प्रसेदुः' प्रसन्ना बभूवुः । भगवतोऽवतारे दिशो रजोवार्दलाद्यभावेन प्रसन्ना जाताः । स्वस्य स्वजनवर्गस्य च

मानसमिन्द्रियाणि च प्रसन्नानि जातानीत्यर्थ । स्वशब्द आत्मा-त्मीयज्ञातिधनार्थवृत्तिः, तेऽत्र ज्ञातिवाची गृहीत । 'तु' पुनः 'अमरा·' देवा रत्नस्वर्णप्रकर 'सौधपूरमवर्षन्' सौध यावता पूर्यते तावन्त वृष्टा इत्यर्थः । सौध यावता पूर्यते तावद्वर्षण पूर्व, "वृष्टिमाने उलुक् चास्य वा" (सि० ५–४–५७) णमुप्रत्यय· । 'विश्वे' समस्ता लोका 'प्रमद' हर्षमदधुः । अत्रोत्प्रेक्षासहोक्तिमसु-च्चयानुप्रासा. । स्वस्थामान्तरित्यादि सहोक्ति·, "सा सहोक्तिः सहा-र्थस्य बलादेक द्विवाचकम् ॥" (का० प्र० १०, ११२) तथा "समुच्चयोऽसौ स त्वन्यो युगपद् या गुणक्रिया ॥" (का० प्र० १०, ११६) ॥ १९ ॥

ये ये भावाः प्रियसुतकृते प्रक्रियन्ते प्रसूभि-
स्तांस्तांस्तस्यातनिषत हरिप्रेरिता देव्य एव ।
नानारूपाः सदृशवयसो हंसवद्वीचयस्तं
देवा एवानिशमरमयत्केलिवापीषु भक्त्या ॥ २० ॥

'प्रसूभि ' मातृभि·'प्रियसुतकृते'अभीष्टपुत्रवृद्ध्यर्थं ये ये 'भावा·' स्नपनमण्डनक्रीडनादय 'प्रक्रियन्ते' प्रारभ्यन्ते 'हरिप्रेरिताः' इन्द्रा-दिष्टाः 'देव्य एव' अप्सरस एव 'तस्य' भगवतः 'तास्तान्' भावान् 'अतनिषत' व्यस्तारयन् । हरिप्रेरिता देवा एव केलिवापीषु भक्त्या 'त' भगवन्त 'अनिश' निरन्तर अरमयन् । किंविशिष्टा देवा ? 'नाना-रूपाः' नानाप्रकाराणि रूपाणि येषा ते नानारूपा· । पुन· किं-विशिष्टा.? 'सदृशवयस.' सदृश भगवतस्तुल्यं वयो येषा ते सदृश-वयस· । किंवत्? हसवत् । यथा हरिप्रेरिता वीचयः केलिवापीषु भक्त्या विच्छित्त्या हस रमयन्ति । हरिर्वायुः, 'हरिर्दिवाकरसमी-रयोः ॥ यमवासवसिंहांशुशशाङ्ककपिवाजिषु । पिङ्गवर्णे हरिद्वर्णे भेकोपेन्द्रशुकाहिषु ॥" (हे० अ० ४५०–४५१) इत्यनेकार्थ· । किंविशिष्टा वीचयः ? 'नानारूपाः' अनेकप्रकाराः । पुनः किंविशिष्टा

वीचय ? सदृशा पतनोत्पतनप्लवनादिना वीचीना तुल्या वयस पक्षिणो यासु ताः । अत्र श्लेषोपमानोदात्ता ॥ २० ॥

अस्नातोऽपि स्फटिकविमलोऽभूषितः कान्तरूपोऽ-
स्तन्यापायी प्रचितकरणोऽशास्त्रदृश्वा मनीषी ।
किं किं ब्रूमः शुचिरुचिरसौ शैशवेऽपि प्रकारे-
णापत्पोषं त्वमिव मरुता सर्वलोकोत्तरेण ॥ २१ ॥

हे मेघ ! वय 'कि कि ब्रूम.?' आश्चर्यपूरिता' किमपि वक्तु न शक्नुम इत्यर्थ । 'असौ' भगवान् 'शैशवेऽपि' बाल्येऽपि सर्वलोकोत्त-रेण प्रकारेण पोष आपन् । सर्वे च ते लोकाश्च सर्वलोका सर्वलोकेभ्य उत्तर उत्कृष्ट· सर्वलोकोत्तर । तमेव विशेषणद्वारेण प्रकारमाह— किंविशिष्ट ? अस्नातोऽपि स्फटिकविमल ,अभूषितस्सन् कान्तरूप , तथाविधसहोत्थातिशयविशेषाद्भगवद्देहस्य मलस्वेदादिदोषोज्झितत्वा-दद्भुतरूपत्वाच्च । 'अस्तन्यापायी प्रचितकरण' न स्तन्यमापिब-तीत्येवशील सन् "अजाते शीले" (सि० ५–१–१५४) णिन-प्रत्यय । प्रचितान्युपचितानि करणानीन्द्रियाणि यस्य स , निजाङ्गु-ष्ठपीयूषपानेनैव पुष्टत्वात् । पुनः कथभूत ? 'अशास्त्रदृश्वा' न शास्त्र दृष्टवानित्यशास्त्रदृश्वा सन् "दृश क्वनिप्" (सि० ५–१–१६६) क्वनिप्प्रत्यय , वन् । 'मनीषी' विद्वान् , जन्मतोऽपि ज्ञानत्रयकलित-त्वात् । क इव ? 'त्वमिव' यथा त्व 'सर्वलोकोत्तरेण' सर्वलोके उत्तरेण उत्तरदिगुद्भवेन सर्वलोकप्रधानेन वा 'मरुता' वायुना पोष पुष्टि प्राप्नोषि । किंविशिष्टोऽसौ ? 'शुचिरुचिः' पवित्रकान्ति· । शु-चिरुचि. शुचौ आषाढमासे रुचिर्यस्यासौ शुचिरुचि· । एतावता बाल्येऽपि भगवतः समस्तलोकासाधारणस्वरूपमुक्तम् । अत्र विभा-वनाश्लेषोपमालङ्कारा ॥ २१ ॥

लोकातीतोल्लसितसुखमं यस्य बाल्येऽपि रूपं
तस्य स्थाम्नि श्रयति पुरुहे यौवने केन वर्ण्यम् ।

यस्यास्तार्यं भवनमुदधेस्तैषदिष्टेऽप्यतार्यं
तस्य ग्रैष्मे तपति तपने केन शक्यं तरीतुम् ॥ २२ ॥

'यस्य' भगवतो रूप बाल्येऽपि 'लोकातीतोल्लसितसुखम' वर्त्तते, लोकमतीतातिक्रान्ता उल्लसिता सुखमा अतिशायिनी शोभा यस्य । 'तस्य' भगवतो रूप यौवने केन वर्ण्यम ? अपि तु न केनापि । क सति ? 'पुरुहे' प्रभूते 'स्थाम्नि' बले 'श्रयति' वर्द्धमाने सति । यस्य 'उदधे॰' समुद्रस्य 'भवन' पानीय 'तैषदिष्टेऽपि' पौषमासकालेऽपि 'अतार्यं' तरीतुमशक्यम, तस्य उदधेर्भवन 'ग्रैष्मे' ग्रीष्मर्तुसम्बन्धिनि 'तपने' सूर्ये तपति केन तरीतु शक्यम् । पौषे तु पयस्तोक भवति, ग्रीष्मे तु ज्येष्ठाषाढयोर्वेलावृद्ध्या पयोवृद्धि । ग्रीष्मस्याय ग्रैष्म॰, "भर्त्तुसन्ध्यादेरण्" (सि॰ ६-३-८९) अणप्रत्ययो वृद्धि॰ । अत्र दृष्टान्तानुप्रासहेतव ॥ २२ ॥

पद्मं पद्भ्यां सरलकदलीकाण्ड ऊर्वोर्युगेन
स्वर्वाहिन्याः पुलिनममलं नेमिनः श्रोणिनैव ।
शोणो नाभ्याश्चति सदृशतां गोपुर वक्षसा च
द्रुद्रोः शाखानवकिशलये बाहुपाणिद्वयेन ॥ २३ ॥
पूर्णेन्दुः श्रीमदनवदनेनाब्जपत्रं च दृग्भ्यां
पुष्पामोदो मुखपरिमलै रिष्टरलं च तन्वा ।
वर्ण्येऽर्थौघे क्वचिदुपमिति दद्युरेवं बुधाश्चे-
देतस्याङ्गैर्भवति उपमाधिक्यदोषस्तथापि ॥२४॥ युग्मम्॥

'चेद्' यदि बुधा॰ 'क्वचित्' प्रदेशे 'अर्थौघे' पदार्थसमूहे 'वर्ण्ये' वर्णनीये सति एतस्य 'अङ्गैः' अवयवै एवंप्रकारेण 'उपमितिं' उपमान दद्युस्तथापि उपमाधिक्यदोषो भवति । एवमिति किम् ? 'पद्म' कमल नेमिन 'पद्भ्या' चरणाभ्या सदृशता 'अञ्चति' गच्छति सरलकदलीकाण्डो नेमिन ऊर्वोर्युगेन सदृशतामञ्चति । 'स्वर्वाहिन्याः' गङ्गायाः 'अमल' निर्मल पुलिन नेमिनः 'श्रो-

णिनैव' कटीतटेनैव सदृग् स्व स्वर्गस्तस्य वाहिनी नदी तस्याः । श्रोणिशब्दः पुस्त्रीलिङ्गः । 'शोण' ह्रदो नेमिनो नाभ्या सदृशताम-श्चति । 'च' अन्यत् 'गोपुर' प्रतोलीद्वार नेमिन 'वक्षसा' हृदयेन सदृशतामश्चति । 'द्रुद्रोः' कल्पवृक्षस्य शाखानवकिशलये नेमिनो बाहुपाणिद्वयेन सदृशता मश्चति, "अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम" इति न्यायादश्चतः । शाखा बाहुद्वयेन नवकिशलय पाणिद्वयेनेत्यर्थ. । द्यौ स्वर्गस्तस्य द्रुर्वृक्ष· ॥ २३ ॥ 'पूर्णेन्दु.' पूर्णचन्द्रो नेमिन. श्रीमदन-वदनेन सदृशतामश्चति । 'च' अन्यत् 'अब्जपत्र' कमलदल ने-मिनो 'दृग्भ्या' लोचनाभ्या सदृशतामश्चति । 'पुष्पामोद' पुष्प-परिमलो नेमिनो मुखपरिमलै. सदृशतामश्चति । रिष्टरत्न च नेमिनस्तन्वा सदृशतामश्चति । रिष्ट–अरिष्ट इति शब्दद्वयमस्ति । अय भाव·—"किल श्रीअर्हता रूप पादाभ्यामारभ्य वर्ण्यते । अन्येषा तु शीर्षादारभ्य पतन् ।" इति वृद्धा । परमेवमपि भगव-त्पादाद्यवयवाना यदि पद्मादीन्युपमानानि दीयन्ते तदा तडाग इव समुद्रः खद्योत इव सूर्य इत्यादिवद्धीनोपमादोष. स्याद्भगवत्पा-दादिभ्य. पद्मादीनामतिहीनत्वात् । अत एतद्दोषपरिजिहीर्षया पण्डिता कचित्प्रदेशे सम्मिलिता. सन्त 'उपमानमुपमेयाद्विशिष्ट-तर स्यात्' इतिन्यायात् पद्मादीन् पदार्थान वर्ण्यान कृत्वा श्रीनेमिन· पादाद्यवयवानुपमानत्वेन स्थापयन्ति । यथा पद्म पद्भ्यामित्यादि । तथापि उपमानस्यात्यन्ताधिकत्वेनोपमाधिक्यदोष स्यात् । यथा— "अय पद्मासनासीनश्चक्रवाको विराजते । युगादौ भगवान् वेधा विनिर्मित्सुरिव प्रजा ॥" इत्यादिवत् । अत श्रीनेमिरूप कथमपि वर्ण-यितु न शक्यते इति समर्थितम् । पद्भ्यामित्यादिषु "तुल्यार्थैस्तृती-याषष्ठ्यौ" (सि० २–२–११६) इति तृतीया भवति । उपमे-त्यत्र "ह्रस्वोऽपदे वा" (सि० १–२–२२) इति ह्रस्वस्य ह्रस्वः

असन्दिग्ध । अत्र दीपकोपमापर्यायोक्तानुप्रासाः । परमार्थतो भगवतो रूपमसाधारणमित्यर्थस्य प्रतिपादनात्पर्यायोक्तम् ॥ २४ ॥

अथ गुणवर्णनायाह—

भाण्डागारं गतभयममुं वीक्ष्य हृष्टः समस्तान्
धैर्यौदार्यादिकगुणमणीनत्र वेधा न्यधत्त ।
तान् किं वक्तुं गणयितुमथ प्रेक्षितुं भूर्भुवःस्वः-
प्रष्ठा देवा मुखकरदृशा साक्षिणोऽधुः सहस्रं ॥ २५ ॥

'वेधा' ब्रह्मा 'अत्र' भगवति समस्तान् धैर्यौदार्यादिकगुणमणीन् 'न्यधत्त' न्यासीचक्रे । किंविशिष्टो वेधाः ? 'अमुं' भगवन्तं 'गतभयं' निर्भयं 'भाण्डागारं' कोशं वीक्ष्य हृष्टः । 'भूर्भुवःस्वःप्रष्ठा देवाः' भूर्भुवस्स्वरित्यव्ययाः क्रमेण पातालव्योमस्वर्गवाचकास्तेषु प्रष्ठा मुख्या 'देवाः' शेषसूर्येन्द्राः । 'तान्' धैर्यौदार्यादिकगुणमणीन् किं वक्तुं गणयितुं 'अथ' अनन्तरं प्रेक्षितुं साक्षिणः सन्तो मुखकरदृशां सहस्रं 'अधुः' धरन्ति स्म । अयं भावः—किलैतानेतावतोऽनन्तान् गुणान् सुस्थाने न्यस्यामीति चिन्तार्त्तः सन् धाता श्रीनेमिनमभयभाण्डागारं वीक्ष्य हृष्टो यदा तत्र नाथे तान् समस्तान् गुणान् न्यासे मुमोच तदा "न खलु सुप्रतिष्ठविश्वस्तैःसाक्षिसमक्षमनिरीक्षितो महान्यासो महत्त्वभीरुणा स्वीकार्य" इति नीतिं प्रमाणयता भगवता श्रीनेमिना त्रिलोकनाथेन त्रिलोकप्रधानाः शेषसूर्येन्द्राः साक्षिणः कृताः । ते चानन्तगुणा एकमुखेन वक्तुमेककरेण गणयितुं द्वाभ्यां दृग्भ्यां प्रेक्षितुं न शक्यन्ते । अतः शेषाहिरेको द्वौ त्रय इत्यादि गुणसङ्ख्यां वक्तुं सहस्रमुखोऽजनि । सूर्यः पृथक् पृथग् न्यस्य गुणान् गणयितुं सहस्रकरो जातः । इन्द्र उपरिस्थो यथा सूर्यो गणयति तथा शेषो वक्ति नवेति द्रष्टुं सहस्राक्षोऽभूदिति । अत्रातिशयोक्तिपरिकररूपकोत्प्रेक्षायथासङ्ख्यपर्यायानुप्रासाः । भाण्डागारमित्यतिशयोक्तिः । "निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत् ।" (का० प्र० १०, १००)

इत्यादि । गतभयमिति साकूतविशेषणेन परिकरः । गुणमणीनिति रूपकम् । एतावता भगवति सर्वेऽप्युत्तमगुणा वर्तन्ते इत्यर्थप्रतिपादनात्पर्यायोक्तम् । तान् किं इत्याद्युत्प्रेक्षा । भूर्भुवःस्व प्रष्ठा देवा इति प्रतिपाद्ये वक्तुमित्यादि मुखेत्यादि क्रमेण प्रतिपादनाद्यथासङ्ख्यम् ॥ २५ ॥

व्योमव्याजादहनि कमनः पट्टिकां सम्प्रमृज्य
स्फूर्जल्लक्ष्मालकशशिखटीपात्रमादाय रात्रौ ।
रुग्लेखन्या गणयति गुणान् यस्य नक्षत्रलक्षा-
दङ्कांस्तन्वन्न खलु भवतेऽद्यापि तेषामियत्ताम् ॥ २६ ॥

'कमन' ब्रह्मा 'अहनि' दिने व्योमव्याजात् पट्टिका सम्प्रमृज्य स्फूर्जल्लक्ष्मालकशशिखटीपात्रमादाय रात्रौ रुग्लेखन्या नक्षत्रलक्षादङ्कान् तन्वन् 'यस्य' भगवतो गुणान् गणयति । 'खलु' निश्चितमद्यापि 'तेषां' गुणानां 'इयत्तां' पारं 'न भवते' न लभते । भूङ्धातुरात्मनेपदी प्राप्त्यर्थे विकल्पेन णिङन्तोऽस्ति । यथा "भूङः प्राप्तौ णिङ्" (सि० ३—४—१९) भावयते भवते रूपद्वयम् । स्फूर्जच्च तत् लक्ष्म च स्फूर्जल्लक्ष्म लाञ्छनमेवालकाः केशा यत्र तत् स्फूर्जल्लक्ष्मालकमेवंविधं शश्येव खटीपात्रमादाय गृहीत्वा । रुक् कान्तिः सैव लेखनी तया । अयं भावः—ब्रह्मा यस्य गुणसङ्ख्यां कर्तुकामो दिवसे आकाशपट्टिकां मृष्ट्वा निर्जने एकाग्रचित्तत्वाद्रात्रौ स्फूर्जल्लाञ्छनकेशगुच्छकं चन्द्ररूपं खटीपात्रं गृहीत्वा चन्द्रनिर्गतकिरणदण्डलेखनीभिः शनैः परिदृश्यमानतारकमिषादेको द्वौ त्रय इत्याद्यङ्कान् कुर्वंश्च भगवतो गुणान् गणयितुं लग्नः । एवमाकाशपट्टिका पूर्णा परं गुणानां पारं न लभते । ततः पुनः प्रातराकाशपट्टिकां मृष्ट्वा रात्रौ तथैव गुणान् गणयति परं पारं नाप्नोति । अतः पुनः पुनराकाशपट्टिकामार्जनादि विधत्ते परं गुणानामद्यापि सङ्ख्यापारं नाप्नोति । यत एवमतो भगवतोऽनन्ता गुणा इति । अत्र रूपकाप-

ह्नुतिकाव्यलिङ्गपर्यायोक्तोदात्ता । तत्र व्योमव्याजान्नक्षत्रलक्षादित्यपह्नुतिः, "प्रकृत यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुति ।" (का० प्र० १०, ९६) सत्यापारागमने यन्नक्षत्रमिषाद्गणन हेतुर्वाक्यार्थतयोपात्त इति काव्यलिङ्गम, गुणानन्त्यार्थप्रतिपादनात्पर्यायोक्तम् ॥

अथ भगवतो रूपस्य गुणाना च विशेषवर्णनायाह—

यैस्तत्तुल्यं पुनरपि पर रूपमाप्नोति सत्तां
नूनं नान्तर्भुवनमणवः सन्ति ते क्वापि केऽपि ।
ते नो विज्ञा अपि गुणगणः स्तूयते यैरगण्यः
कार कार नवनवनवान् वास्तवांस्तस्य भर्तुः ॥ २७ ॥

'नून' निश्चित 'अन्तर्भुवन' भुवनमध्ये ते 'अणवः' परमाणव क्वापि स्थाने केऽपि न सन्ति 'यै' परमाणुभिः पुनरपि 'तत्तुल्य' तस्य भगवत सदृश 'पर' अन्यद्रूप 'सत्ता' अस्तित्वमाप्नोति । यैः परमाणुभि स्वामिरूप निष्पन्न ते यदि विश्वेऽधिका अभविष्यन् तदा स्वामितुल्य परमपि क्वापि रूप निरपत्स्यत, पर न निष्पद्यते यत-स्तन्निष्पादका अणवः क्वापि न सन्ति । तथान्तर्भुवन ते 'विज्ञा' पण्डिता अपि नो सन्ति । भुवनस्यान्तरन्तर्भुवन "पारे मध्येऽ"—(सि० ३—१—३०) अव्ययीभाव । 'यैः' विज्ञैः 'वास्तवान' सत्यान् 'नवननवनवान' नूतननूतनान नवान् स्तवान् 'कार कार' कृत्वा कृत्वा तस्य भर्त्तुः 'अगण्यः' गणनातिगो गुणगण स्तूयते । भगवतो लोकोत्तरानन्तगुणाः सत्यस्तवैर्यैं स्तूयन्ते ते विज्ञा विश्वे न सन्तीत्यर्थ । अभीक्ष्ण करण पूर्व प्राक्काले "ख्णम् चाभीक्ष्ण्ये" (सि० ५—४—४८) इति णम्प्रत्यय, वृद्धिः, "वीप्सायां" (सि० ७—४—८०) द्विः । अत्रानुमानानुप्रासौ । अत्र भगवत्तुल्यरूपानुपलब्ध्या हेतुनाधिकाः परमाणवो न सन्तीति साध्यानुमानम् । अगण्यत्वाद्गुणगणाः स्तवनानुमानम् ॥ २७ ॥

अथ सर्वगुणानां तत्रैव सत्तामाह—

तत्सौभाग्यं तदतुलतरस्तज्जनानन्दि रूपं
तल्लावण्यं तदपरिमितं ज्ञानमन्यानवापम् ।
सा मैत्री सा धृतिरविचला ताः कृपाक्षान्तिकान्ति-
प्रज्ञावाचः परमपि शुभं लभ्यमत्रैव लभ्यम् ॥ २८ ॥

'तत्' सर्वलोकप्रसिद्ध 'सौभाग्य' सुभगभावः । तदिति सर्वत्र पूर्ववत् । अतुल तुलारहित तरो बलम । तद् जनानानन्दयतीत्येव-शील जनानन्दि रूपम् । तद् लावण्य लोकलोचनाञ्जलिपुटपेपीय-मानशोभोपचय· । लवणशब्दो लक्षणया शोभाया वर्त्तते । तत् 'अपरिमित' परिमाणरहित ज्ञायते विशेषोऽनेनेति ज्ञानम । किंवि-शिष्ट ज्ञान? 'अन्यानवाप' अन्यैर्नावाप्यते प्राप्यते इत्यन्यानवाप 'भावाऽकर्त्रोः" (सि० ५–३–१८) घञ्प्रत्यय, अन्यैरल-भ्यमित्यर्थ । सा 'मैत्री' परहितचिन्ता । सा अविचला 'धृति सन्तोष । ताः कृपाक्षान्तिकान्तिप्रज्ञावाच· । स्पष्ट परमपि 'शुभ' सहननसस्थानसत्त्वशौर्यादिक सर्वोत्तमगुणरूप वस्तु 'लभ्य' युक्त तद् 'अत्रैव' भगवति 'लभ्य' प्राप्यम । सुभगस्य भाव सौभा-ग्यम्, लवणस्य भावो लावण्यम, "वर्णदृढादिभ्यष्ट्यण् च वा" (सि० ७–१–५९) ट्यण्प्रत्यय· । शुभमित्यत्र अव्यक्तत्वान्नपु-सकम् । एतावता भगवति सर्वलोकोत्तरगुणसपदुक्ता । यत·—"स-घयणरूवसठाणवण्णगइसत्तसारऊसासा । एमाइऽणुत्तराइ हवति नामोदया तस्स ॥" इति श्रुतसिद्धे· । अत्र समुच्चयसमानुप्रासाः । समुच्चयेऽपि सद्योगः "सम योग्यतया योगो यदि सम्भावितः क्वचित् ॥' (का० प्र० १०, १२५) परमपीत्यादि ॥ २८ ॥

अथ कथाप्रसङ्गमाह—

अन्येद्युः स्वःसद इव दिवि क्रीडतः कामिनीडा-
क्रीडक्रोडे युवतिसमितान् वीक्ष्य वृष्णेः कुमारान् ।

तारुण्येनानुपमसुषमां बिभ्रतं तं प्रतीति
प्राकुर्वातां चतुरपितरौ प्रेरितौ प्रेमपूरैः ॥ २९ ॥

'अन्येद्युः' अन्यदिवसे 'चतुरपितरौ' चतुरौ दक्षौ पितरौ मातापितरौ 'तं' भगवन्तं प्रति 'इति' वक्ष्यमाणं 'प्राकुर्वातां' अकथयताम् । पिता च माता च पितरौ "पिता मात्रा वा" (सि० ३-१-१२२) सूत्रेण पितृशब्दशेषः । किंविशिष्टौ पितरौ ? 'प्रेमपूरैः' स्नेहपूरैः प्रेरितौ । किं कृत्वा ? 'कामीनीडाक्रीडक्रोडे' कामिना चपलत्वात्पक्षिणामुपमानमन्तर्गूढं ज्ञेयम्, अतः कामिनां निवासाय नीडं कुलायं इव नीडं एवंविधं आक्रीडं प्रमदवनं तस्य क्रोडे उत्सङ्गे वनस्योत्सङ्गाभावात्साहश्यान्मध्यप्रदेशो लभ्यते, अतः क्रीडावनमध्यभागे 'वृष्णेः कुमारान्' यदुकुमारान् क्रीडतो वीक्ष्य । वृष्णिरिति पूर्वपुरुषः अन्धकवृष्णिर्भोजवृष्णिर्वा, "तेलुग् वा" (सि० ३-२-१०८) पूर्वपदलोपः । किंरूपान् कुमारान् ? युवतिभिः स्त्रीभिः समितान् मिलितान् । कानिव ? 'दिवि' स्वर्गे 'स्वःसद इव' देवानिव, यथा स्वर्गे देवाः क्रीडन्ति । किं कुर्वन्तं तं ? तारुण्येन 'अनुपमसुषमां' निरुपमानशोभां 'बिभ्रतं' धरन्तम् । अन्यस्मिन्नहनि अन्येद्युः, "पूर्वापराधरोत्तरान्यान्यतरेतरादेद्युस्" (सि० ७-२-९८) एद्युस्प्रत्ययः । प्राकुर्वातामिति "गन्धनावक्षेपसेवासाहससप्रतियत्नप्रकथनोपयोगे" (सि० ३-३-७६) इति प्रकथनार्थे आत्मनेपदम् । अत्रोपमालुप्तोपमारूपककाव्यलिङ्गानुप्रासाः । कामीति लुप्तोपमा पक्ष्युपमानचञ्चलत्वधर्मलोपात् । कुमारक्रीडादर्शनं प्रभोस्तारुण्यश्रीवरेण्यत्वजल्पने हेतुरिति काव्यलिङ्गम् । एतावता मातापितरौ श्रीशिवादेवीसमुद्रविजयौ श्रीरैवतकोद्याने कमनीयकामिनीकलितसकलयदुकुलकुमारान् क्रीडतो दृष्ट्वा श्रीनेमिनमभङ्गुरसौभाग्यशोभावरेण्यतारुण्यविभूषिताङ्गमप्यजिह्मब्रह्मपरमसुधास्वाददूरितविषयविलासं चालोक्य प्रभोः पाणिग्रहणलीलां दिदृक्षू 'इति' वक्ष्यमाणं वक्ष्यमाणमूचतुरित्यर्थः ॥ २९ ॥

अथ मातापित्रोरुक्तिमाह—

अस्मद्भाग्यैः सुरतरुरिवाभूर्वयस्थो विशिष्टः
शाणोन्मृष्टो मणिरिव महोलक्ष्मिपोषं तथापः ।
तत्त्वं काञ्चित्क्षितिपतिसुतां हैममुद्रामिवौजः-
स्फूर्जद्वर्णां गुरुहरिकुलापीड ! पाणौकुरुष्व ॥ ३८ ॥

हे वत्स ! त्व 'अस्मद्भाग्यै.' अस्मत्पुण्यैः 'सुरतरुरिव' कल्पवृक्ष इव 'वयस्थ·' तरुणोऽभू· । यथा भाग्येन गृहाङ्गणे कल्पतरुर्जायते वर्द्धते तथा लोकोत्तरसुतरत्नप्राप्तिरपि पित्रोर्भाग्येनैव स्यात् । किंविशिष्टस्त्वम् ? 'विशिष्टः' सौन्दर्यादिगुणै श्रेष्ठः । सुरतरुपक्षे विभि पक्षिभि· श्रेष्ठ । तथा त्व 'शाणोन्मृष्ट' शाणया उन्मृष्ट उत्तेजितो मणिरिव 'महोलक्ष्मिपोपमाप' महसा तेजसा लक्ष्मीः महोलक्ष्मी· तस्याः पोषस्तमाप· "वेदूतोऽनव्ययय्वृदीचूङीयुवः पदे" (सि० २–४ –९८) इति ह्रस्व । कश्चित्तारुण्येऽपि विध्याताग्निरिव निस्तेजा. स्यात्, त्व तु तेजःश्रिया दीप्यमानोऽभूरित्यर्थ । हे 'गुरुहरिकुलापीड !' गुरु महद् हरिकुल यदुकुल तस्यापीड· शेखर 'तत्' तस्मात्कारणात् त्व काञ्चित्क्षितिपतिसुता हैममुद्रामिव 'पाणौकुरुष्व' परिणय, पक्षे पाणौ हस्ते यथा हैमी मुद्रा पाणौ हस्ते क्रियते । किंरूपा क्षितिपतिसुताम ? 'ओजःस्फूर्जद्वर्णां' ओजसा बलेन दीप्त्या वा स्फूर्जन् वर्णो रूप यस्या· सा ताम् । मुद्रापक्षे ओजसा दीप्त्या स्फूर्जन वर्णः सुवर्णम । यत·–"वर्ण· स्वर्णे व्रते स्तुतौ । रूपे द्विजादौ शुक्लादौ कुथायामक्षरे गुणे । भेदे गीतक्रमे चित्रे यशस्तालविशेषयो· ॥" इत्यनेकार्थः। पाणौकुरुष्वेति विवाहार्थे "नित्य हस्ते पाणावुद्वाहे" (सि० ३–१–१५) इति गतिसञ्ज्ञा। एतावता वत्स ! त्वमस्माक भाग्यैर्निर्विघ्न तारुण्यवय· प्राप , तारुण्येऽपि निरुपमानदेदीप्यमानतेज श्रिय च लब्धवान्, अतो यदि काञ्चिदनुरूपरूपा राजकन्या परिणयसि तदास्माकं सर्वे मनोरथाः

पूर्यन्त इति । अत्रोपमामालोपमासमुच्चयकाव्यलिङ्गानुप्रासाः । हैम-मुद्रामिवेत्युपमा । एकस्मिन् भगवत्युपमेये सुरतरुरिवेति मणिरिवे-त्युपमानद्वययोगान्मालोपमा । तारुण्यं महश्च परिणयहेतू वाक्या-र्थतया गृहीताविति काव्यलिङ्गम् ॥ ३० ॥

अथ मातापित्रोराग्रहे भगवदुक्तिमाह—

आगृह्णानावुपयतिकृते कृत्स्नवात्सल्यखानी
पौनःपुन्यात्प्रकृतिसरलौ क्षीरकण्ठाविवैतौ ।
लप्स्ये लोकम्पृणगुणखनीं चेत्कनीं तद्विवक्ष्येऽ-
तीक्ष्णोक्त्येत्यागमयत कियत्कालमेषोऽप्यलक्ष्यः॥३१॥

एषोऽप्यलक्ष्यो भगवान् इति 'अतीक्ष्णोक्त्या' मृदुगिरा 'एतौ' पितरौ कियत्कालं 'आगमयत' प्रतीक्षयत् कालातिक्रमं कारयामासे-त्यर्थः । किंविशिष्टावेतौ ? 'उपयतिकृते पौनःपुन्यादागृह्णानौ' भृशा-भीक्ष्णेन उपयतिः पाणिग्रहणं तत्कृते आगृह्णानौ आग्रहपरौ । पुनः किंविशिष्टौ ? 'कृत्स्नवात्सल्यखानी' कृत्स्नं समस्तं वात्सल्यं तस्य खानी । पुनः किंविशिष्टौ ? 'क्षीरकण्ठाविव' बालाविव प्रकृतिसरलौ । इतीति किम् ? अहं 'चेद्' यदि लोकम्पृणगुणखनीं कनीं 'लप्स्ये' प्राप्स्यामि । प्रीँग्श् तृप्तिकान्त्योः, लोकं प्रीणन्तीति लोकम्पृणाः अ-च्प्रत्ययः, "लोकम्पृणमध्यन्दिनाऽनभ्यासमित्यम्" (३—२—११३) इति मोन्त. लोकम्पृणनिपातः । लोकम्पृणा लोकप्रीतिकारका ये गुणास्तेषां खनीव खनी ताम् 'तत्' तदा 'विवक्ष्ये' परिणेष्यामि । भगवतोऽभिप्रायस्तावदेवम्—यल्लोकम्पृणशममार्दवार्जवसन्तोषाद्यने-कगुणरत्नखनिर्दीक्षैवास्ति, अतोऽहमवसरे तामेवाङ्गीकरिष्यामि । मातापित्रोरभिप्रायस्तु—असौ योग्या कन्या यदा लप्स्यते तदा प-रिणेष्यतीत्याशया पितरौ कियत्कालं प्रतीक्षितौ । गम आङ्पूर्वः, आगच्छन्तौ प्रयुङ्क्ते णिग्, "गमेः क्षान्तौ" (सि० ३—३—५५) आत्मनेपदम् । विवक्ष्ये इति वहीं प्रापणे, विपूर्वः, भविष्यतः स्ये ।

अत्रोपमारूपकसमासोक्तिपरिकरानुप्रासाः। लोकम्पृणेत्यत्र श्लेषोक्त्या द्वितीयार्थस्य लभ्यमानत्वात्समासोक्तिः । आगृह्णानाविलादिसाकूतैर्विशेषणैः परिकरः । कियत्कालमित्यत्र "कालाध्वनोर्व्याप्तौ" (सि० २-२-४२) इति द्वितीया ॥ ३१ ॥

अथ कथाप्रसङ्गमाह—

स्वैरं भ्राम्यन् वनगज इव श्रीपतेरन्यदासौ
शस्त्रागारं न्यविशत लसच्चारुचक्रं सरोवत् ।
तत्रापश्यत्कुटिलसरलां सर्वतः पुष्कराढ्यां
शस्त्रश्रेणीं विकचकमलां वीचिमालामिवाथ ॥ ३२ ॥

'अन्यदा' अन्यस्मिन् काले 'असौ' भगवान् वनगज इव 'स्वैरं' स्वेच्छया भ्राम्यन् सरोवत् 'श्रीपतेः' कृष्णस्य 'शस्त्रागारं' आयुधशालां न्यविशत । एतावता असौ भगवानन्यदा यदुकुलकुमारपरिवृतः क्रीडया भ्रमन् कृष्णस्यायुधशालायां गत इत्यर्थः । यथा गजः स्वेच्छया भ्रमन् सरो विशति । किंविशिष्टं शस्त्रागारम्? 'लसच्चारुचक्रं' लसच्चारु मनोज्ञं चक्रं चक्रप्रहरणं सुदर्शनाख्यं यत्र । सरःपक्षे चक्राश्चक्रवाकाः । अथासौ भगवान् तत्र शस्त्रागारे 'शस्त्रश्रेणीं' शार्ङ्गधनुष्कौमोदकीगदानन्दकखड्गादिकामपश्यत् । कामिव? 'वीचिमालामिव' यथा गजस्तत्र सरसि वीचिमालां पश्यति । किंविशिष्टां शस्त्रश्रेणीम्? 'कुटिलसरलां' कुटिला चासौ सरला च कुटिलसरला ताम् । कानिचिद्धनुरादीनि कुटिलानि कानिचित्खड्गगदादीनि सरलानि वर्त्तन्ते । कुब्जकुण्ठवत्समासः । वीचिपक्षेऽप्ययमेवार्थः । पुनः कथंभूतां? 'सर्वतः पुष्कराढ्यां' पुष्कराण्यसिफलानि शरा वा तैराढ्यां समृद्धाम् । पक्षे पुष्करं जलं तेनाढ्यां समृद्धाम् । यतः—"पुष्करं तीर्थाहिखगरागौषधान्तरे । तूर्यास्येऽसिफले काण्डे शुण्डाग्रे खे जलेऽम्बुजे ॥" इत्यनेकार्थात् । पुनः कथंभूताम्? 'विकचकमलाम्' विकचा विकस्वरा कमला

लक्ष्मीर्यस्याः सकाशात्ताम । पक्षे विकचानि स्मेराणि कमलानि यस्या सा ताम् । न्यविशतेति "निर्विशः" (सि० ३–३–२४) इत्यात्मनेपदम् । अत्रोपमाश्लेषा. ॥ ३२ ॥

तत्र प्रेक्षाकुतुकनिहितप्रेक्षणः पाञ्चजन्यं
शङ्खं प्रेक्ष्य श्रुतिसुखचिकीर्यावदादित्सतासौ ।
तावत्क्षत्ता जलशयमृते पूर्यते नायमन्यै-
रित्थं संज्ञुर्विनयविनमन्मौलि विज्ञप्तवांस्तम् ॥ ३३ ॥

'असौ' भगवान् 'तत्र' शस्त्रागारे 'पाञ्चजन्य' शङ्ख प्रेक्ष्य यावत् 'आदित्सत' ग्रहीतुमैच्छत किंरूपोऽसौ? 'प्रेक्षाकुतुकनिहितप्रेक्षणः' प्रेक्षा विलोकन तस्या कुतुकेन कुतूहलेन निहितेऽर्थात्तत्र शङ्खे न्यस्ते प्रेक्षणे लोचने येन स प्रेक्षाकुतुकनिहितप्रेक्षण· । किंरूपः ? 'श्रुतिसुखचिकी.' श्रुत्योः कर्णयोः सुख कर्तुमिच्छतीति श्रुतिसुखचिकीः । तावत् 'क्षत्ता' प्रतीहार· 'त' भगवन्त 'विनयविनमन्मौलि' यथाभवति इत्थ विज्ञप्तवान् विनयेन विनमन्मौलिर्यत्र नमने तत्क्रियाविशेषणम् । इत्थमिति किम्? 'अय' शङ्ख 'जलशय' कृष्णं 'ऋते' विनाऽन्यैर्न पूर्यते । किंरूप. क्षत्ता? 'सज्ञु' योजितजानुयुगः । अत्र शङ्खपूरणनिषेधद्वारेण ग्रहणनिषेध· कृतः । न तु प्रभोर्मा गृहाणेति निरुपचार वाचा वक्तु युक्तमिति पर्यायोक्तमनुप्रासश्च । चिकीरत्र डुकृग् करणे, कर्तुमिच्छतीति "तुमर्हादिच्छाया सन्नतत्सनः" (सि० ३–४–२१) सन्, "स्वरहन्गमोः सनि घुटि" (सि० ४–१–१०४) कृदीर्घ., "सन्यङश्च" (सि० ४–१–३) कृद्वित्व, "ह्रस्व" (सि०–४–१–३९) कृ, "ऋतोऽत्" (सि० ४–१–३८) ऋ अ, "सन्यस्य" (सि० ४–१–५९) कि, "कङश्चञ्" (सि० ४–१–४६) कि चि, "ऋता क्ङितीर्" (सि० ४–४–११६) किर्, "भ्वादेर्नामिनो दीर्घो–" (सि० २–१–६३) कीर्, "नाम्यन्तस्थाकवर्गात्–" (सि० २–३–१५)

स ष्, चिकीर्षतीति "क्विप्" क्विप्, "अत." (सि० ४–३–८२) अलोपः, "अप्रयोगीत्" (सि० १–१–३७) क्विब्लोप·, प्रथमा सि, "दीर्घङ्याब्व्यञ्जनात्सेः" (सि० १–४–४५) सिलोपः, "रात्सः" (सि० २–१–९०) इति सूत्रेण "णषमसत्परे स्यादिविधौ च" (सि० २–१–६०) इति षत्वस्यासत्वात्सलोपः, चिकीरिति निष्पन्नम् । जलशयमृते "ऋते द्वितीया च" (सि० २–२–११४) इति द्वितीया । "सङ्कुसङ्गौ युतजानू" इति ॥ ३३ ॥

तच्चाकर्ण्य स्मितसितमुखः सोदरस्तेजसांशो-
रभ्याशस्थैरनिमिषतमैर्विस्मयाद्वीक्ष्यमाणः ।
आनन्त्यौजाः स लघु जलजं लीलयाऽधत्त हस्ते
भूरिस्फूर्जत्परिचितगुणं रोपयामास चास्ये ॥ ३४ ॥

'सः' भगवान् 'लघु' शीघ्रं यथाभवति 'जलज' शङ्ख लीलया हस्तेऽधत्त 'च' अन्यत् 'आस्ये' मुखे रोपयामास। लीलयेति प्रयास-परिहार । किरूप·? 'च.' पूर्वोक्तसमुच्चये तत्प्रतीहारोक्तमाकर्ण्य 'स्मितसितमुखः' स्मितेन हास्येन सित श्वेत मुख यस्य स· । प्रती-हारेण यदुक्तमय शङ्खः श्रीकृष्ण विनाऽन्येन केनापि पूरयितु न श-क्यते इतिवाक्य श्रुत्वा न जानाति वराकोऽस्मद्बलमिति मनाग्विकस्वरी-भूतकपोलनेत्ररूपस्मितोज्ज्वलमुखः। पुन कथभूतः? 'तेजसा' कान्त्या 'अंशोः' सूर्यस्य सोदर· । पुनः किरूप ? 'अभ्याशस्थै.' समीपस्थैः 'अनिमिषतमैः' अनिमेषैर्जनै. 'विस्मयाद्' आश्चर्याद्वीक्ष्यमाणः । पुनः कथंभूतः? 'आनन्त्यौजाः' आनन्त्यमनन्तमोजो बल यस्य सः । किं-विशिष्ट जलजम्? 'भूरिस्फूर्जत्परिचितगुण' भूरि सुवर्ण तस्य स्फू-र्जन् परिचितो बद्धो गुणो दवरको नङ्गलाख्यो यत्रासौ भूरिस्फूर्जे-त्परिचितगुणस्तम्। अथ साधारणविशेषणैः प्रतीयमानमर्थान्तरम्—अन्योऽप्यंशोः सोदर ऐरावणो 'जलज' कमल लीलया 'हस्ते' शुण्डा-दण्डे दधाति 'च' अन्यन्मुखे रोपयति। सोऽपि समीपस्थैरनिमिषतमैः

प्रकृष्टदेवैर्विस्मयाद्वीक्ष्यते महाबलवांश्च भवति । किंविशिष्टं जलजम्? 'भूरिस्फूर्जत्परिचितगुण' भूरयो बहवः परिचिता· स्निग्धा गुणाः केसराणि यत्र तत् । अत्र प्रकृष्टा अनिमिषा अनिमिषतमाः, "प्रकृष्टे तमप्" ('सि० ७–३–५) तमप् प्रत्ययः । 'आनन्त्यौजाः' अनन्तमेवानन्त्यम्, "भेषजादिभ्यष्ट्यण्" (सि० ७–२–१६४) ट्यण्प्रत्ययः । रोहन्त प्रायुङ्क्त "प्रयोक्तृव्यापारे णिग्" (सि० ३–४–२०) णिग्, "रुह् प" (सि० ४–२–१४) हस्य पः । अत्र स्मितसितमुखो रोपयामासेति गूढलक्षणा । अत्र समासोक्तिरूपकदीपकानुप्रासाद्या· ॥ ३४ ॥

तेन स्निग्धाञ्जनघनघनः सोऽतिशैलेयदध्ना
　　लोकेशो वाङ्मनसविषयं व्यानशे श्रीविशेषम् ।
ज्यौत्स्न्यामन्तःशरदममलं व्योम पूर्णेन्दुनेव
　　प्रत्यग्रो वाभ्युदयित इव त्वं बलाकाकुलेन ॥ ३५ ॥

स लोकेशः 'तेन' शङ्खेन 'श्रीविशेष' शोभाविशेष 'व्यानशे' प्राप्तवान् । किरूपः सः? 'स्निग्धाञ्जनघनघनः' स्निग्ध यदञ्जन घनो मेघस्तद्वद्धन· शरीर यस्य । किंविशिष्टेन तेन? 'अतिशैलेयदध्ना' शिलया तुल्य शैलेय ईदृश दधि अतिक्रान्तः अतिशैलेयदधिस्तेनातिशैलेयदध्ना, एतावताऽतीवशुक्लस्निग्धतया स्नेहबहुल पिच्छल दध्यतिक्रान्तम् । किरूप श्रीविशेषम्? 'अवाङ्मनसविषय' वाक् च मनश्च वाङ्मनसे वाङ्मनसयोर्विषयो वाङ्मनसविषयो न विद्यते वाङ्मनसविषयो यत्र स तम्, अतो वाचा वक्तुं मनसा चिन्तयितु न पार्यते । किमिव? अमल व्योमेव, यथा 'अन्तःशरद्' शरत्कालस्यान्त. 'ज्यौत्स्न्यां' पूर्णिमाया पूर्णेन्दुना श्रीविशेषं व्यश्नुते । 'वा' अथवा क इव? 'त्वमिव' यथा त्व 'प्रत्यग्रः' नवीनः 'अभ्युदयितः' उदय प्राप्तः सन् बलाकाकुलेन श्रीविशेष व्यश्नुषे । व्योममेघौ भगवत उपमा । पूर्णेन्दुबलाकाकुले शङ्खस्य । शिलायास्तुल्यं

शैलेय "शिलाया एयच्च" (सि० ७–१–११३) एयञ् प्रत्ययः । तदनु "प्रात्यवपरिनिरादयो गतक्रान्त–" (सि० ३–१–४७) इत्यादिना तत्पुरुषः । अतिक्रान्त शैलेय दधि येनेति बहुव्रीहौ "दध्युरःसर्पिर्मधूपानच्छाले." (सि० ७–३–१७२) इति कप्रत्ययः स्यात् । अवाङ्मनसेति वाक मनश्चेति वाङ्मनस "ऋक्सामर्ग्यजुषधेन्वनडुहवाङ्मनसाहोरात्ररात्रिदिवनक्तदिवाहर्दिवोर्वष्ठीवाक्षिभ्रुवदारगवम्" (सि० ७–३–९७) इति समासान्तोऽत्प्रत्ययो निपातश्च । व्यानशे अशौटि व्याप्तौ । ज्योत्स्ना विद्यते यस्या सा ज्यौत्स्नी "ज्योत्स्नादिभ्योऽण्" (सि० ७–२–३४)अण्, वृद्धि., "अवर्णेवर्णस्य" (सि० ७–४–६८) इत्यालोपे, "अणञेयेकण्नञ्स्नञ्टिताम्" (सि० २–४–२०) ङीप्रत्यये ज्यौत्स्नीरूपम । शरदोऽन्तर्मध्यमन्तःशरद "शरदादे·" (सि० ७–३–९२) अत्प्रत्ययः । अयि वयि पयि मयि नयि चयि रयि गतौ, अय् अभि–उत्पूर्वः क्तप्रत्ययेऽभ्युदयितः । अत्रोपमानमालोपमोदात्तानि ॥ ३५ ॥

तस्मिन् शङ्खे पूर्यमाणे सति यज्जात तद्विशेषकेनाह्—

तस्मिन्नीशे धमति जलजं छिन्नमूलद्रुवत्ते
शस्त्राध्यक्षाः सपदि विगलच्चेतनाः पेतुरुर्व्याम् ।
आश्वं चाशु व्यजयत मनो मन्दुराभ्यः प्रणश्य-
न्मूढात्मेवामुचत चतुरोपाश्रयं हास्तिकं च ॥ ३६ ॥

हारावासीरदधत हृदीवानने पौरनार्यो
योद्धुर्गुच्छच्छदवदपतन् फाल्गुनेऽस्त्राणि पाणेः ।
प्राकाराग्र्याण्यपि विजगलुर्गण्डशैला इवाद्रेः
पूच्चक्रे च प्रतिरुतनिभाद्भूरिभीरुज्जयन्तः ॥ ३७ ॥

तस्थुर्वीराः क्षितिपतिसभे यद्रविष्या ह्रियैवा-
स्थानस्यान्तः किमिति चकितोऽधोक्षजः क्षोभमार्षीत् ।

किं वा कम्बोर्नगरवरणे मूर्च्छति प्रौढनादे
सर्वं पारिप्लवमिति तदा तथ्यतामाप वाक्यम् ॥ ३८ ॥

त्रिभिर्विशेषकम् ॥

'तस्मिन्नीशे' श्रीनेमिजिनस्वामिनि 'जलज' शङ्खं 'धमति' वादयति सति 'ते' प्रसिद्धा 'शस्त्राध्यक्षाः' आयुधरक्षकाश्छिन्नमूलद्रुवत् 'उर्व्यां' पृथिव्यां पेतुः । द्रुर्वृक्षः । किंरूपाः शस्त्राध्यक्षाः? 'सपदि' तत्कालं विगलन्ती चेतना येषां ते विगलच्चेतनाः । 'च' अन्यत् 'आश्वं' अश्वसमूहं 'मन्दुराभ्यः' हयशालाभ्यः 'आशु' शीघ्रं 'प्रणश्यन्' पलायमानं मनो व्यजयत । अश्वानां समूहः आश्वम् । अश्वैर्भीतैस्त्रस्यद्भिर्वेगेन मनोऽपि जितमित्यर्थः । 'मूढात्मेवामुचत चतुरोपाश्रयं हास्तिकं च' च अन्यद् हास्तिकं हस्तिनां समूहः चतुरोपाश्रयं हस्तिशालाममुञ्चत्, सिंहनादभ्रान्त्या हस्तिनो हस्तिशालातस्त्रस्ता इत्यर्थः । क इव? 'मूढात्मेव' यथा मूढात्मा मूर्खश्चतुरोपाश्रयं चतुराणां दक्षाणामुपाश्रयं स्थानं मुञ्चति । "मूढेनेवौज्झ्यत च चतुरोपाश्रयः हास्तिकेन" इति पाठे 'औज्झ्यत' अत्यज्यत, परमस्मिन् पाठे भग्नप्रक्रमो दोषः । अन्याः सर्वा उक्तयः कर्त्रा निर्व्यूढाः सन्ति । एषा तु कर्मणेति भग्नप्रक्रमत्वम् । व्यजयतेति "परावेर्जेः" (सि० ३-३-२८) आत्मनेपदम् । अश्वानां समूहः आश्वं "षष्ठ्या समूहे" (सि० ६-२-९) अण् । हस्तिनां समूहो हास्तिकं "कवचिहस्त्यचित्ताच्चेकण्" (सि० ६-२-१४) इकण्प्रत्ययः । अत्रोपमानक्रियासमुच्चयदीपकपर्यायोक्तानि । मनो व्यजयतेति वेगातिशयप्रतिपादनात्पर्यायोक्तम् ॥ ३६ ॥ हारावाप्तीरिति । तस्मिन्नीशे जलजं धमति सतीति सर्वत्रापि सम्बध्यते । 'पौरनार्यः' नागरिकस्त्रियो हृदीव 'आनने' मुखे 'हारावाप्तीरदधत' कोऽर्थः? यथा हृदि हारस्यावाप्तिः प्राप्तिर्ध्रियते, तथा मुखेऽपि हा इति रावस्तस्याप्तयो धृताः । बहुवचनमेकस्या अपि बहुशो हाहाशब्दकरणात् ।

एतेनात्याकुलत्व सूचितम् । 'योद्धुः' भटस्य 'पाणेः' हस्तादस्त्राण्यपतन् । किंवत्? 'गुच्छच्छदवत्' गुच्छो वृक्षस्तस्य च्छदानि दलानि तद्वत्, यथा फाल्गुने गुच्छच्छदानि पतन्ति । योद्धुरिति जातावेकवचनम् । 'प्राकाराग्र्याण्यपि' कपिशीर्षाण्यपि 'विजगलुः' षटत्षटत्कुर्वन्ति दुर्गभित्तेर्गलितानि भ्रष्टानि । के इव? 'गण्डशैला इव' यथाऽद्रेर्गण्डशैलाः स्थूलोपला गलन्ति । 'च' अन्यत् 'उज्जयन्तः' रैवतकः 'प्रतिरुतनिभात्' प्रतिशब्दमिषात् पूत्चक्रे । किंविशिष्टः? 'भूरिभीः' भूरिर्बह्वी भीः भीतिर्यस्य सः । अत्र श्लेषोपमारूपकापह्नुतिसमुच्चयदीपकानि ॥ ३७ ॥ तस्थुरिति । 'क्षितिपतिसभे' राजसभाया 'ह्रियैव' लज्जयैव 'यद्भविष्या.' दैवपरास्तस्थुः, यद्दैव करिष्यति तद्भविष्यतीत्येवमवष्टभ्य पलायने कातरा अमी इति प्रवादमाप्स्यामस्ततो लज्जयैव तस्थुर्न तु धैर्येण । 'आस्थानस्य' सभायाः 'अन्तः' मध्ये 'अधोक्षज.' कृष्ण क्षोभमार्षीत् । किंविशिष्टोऽधोक्षजः? 'किमिति चकितः' चलचित्ततया किं किमिति शङ्कितः । 'किं वा' अथवा बहु किं कथ्यते? इत्यर्थः । तदा सर्वं 'पारिप्लवं' क्षणिक इति वाक्य 'तथ्यता' सत्यतामाप । क सति? 'कम्बोः' शङ्खस्य प्रौढनादे 'नगरवरणे' नगरदुर्गे 'मूर्च्छति' प्रवृत्तयति सति । बौद्धा हि सर्व क्षणिक मन्यन्ते, तद्दृष्टेष्टाभ्यामघटमानमपि तदा घटितम् । कोऽर्थः? शङ्खस्य महानादे सर्वत्र विस्तृते सति सकलगजतुरगपदातिसर्वबलनागरिकत्रासप्रासादशिखरधवलगृहगवाक्षचलनप्राकारकपिशीर्षकगलनरैवतकाद्रिकम्पादिना लक्षणेन सर्वत्र वैसस्थुल्य तथाऽजनि यथा सर्वं क्षणिकमिति वाक्य सत्यमभूत् । क्षितिपतेः सभा क्षितिपतिसभ तत्र, "राजवर्जितराजार्थराक्षसादेः परापि च ।" (है० लिङ्गा० नपु० ११ श्लो०) इति नपुसकत्वम् । अत्र पर्यायोक्तं वा । प्राकारादिक्षोभे जायमाने शक्यस्यापि सर्वपारिप्लववाक्यस्य घटनमिति विशेषः । ततः—"अन्यत्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्वव-

स्तुनः । तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः ॥" (का० १०, १३६) सर्वं पारिप्लवमिति वाक्यताप्राप्त्या शङ्खनादाद्वैताभिधानमिति पर्यायोक्तम् । अत्र दीपकसमुच्चयोदात्तातिशयोक्तयः काव्यत्रयेऽपि ज्ञेयाः ॥ ३८ ॥

अथ शङ्खपूरणादनु यज्जात तदाह—

जानँल्लोके स जलजतया क्लेशबीजं कृपालुः
　कम्बुं हित्वाऽपि हि जलशयास्थानमार्षीद्थेशः ।
नेमीशोपक्रममिदमिति ज्ञातपूर्वी मुरारि-
　र्योग्याभूमौ भुजबलपरीक्षार्थमाह्वास्त तं च ॥ ३९ ॥

'अथ' अनन्तर स ईश 'कम्बु' शङ्ख जलजतया क्लेशाना शत्राध्यक्षमूर्च्छाहयगजत्रासप्रासादप्राकारकम्पलोकहाहाकारादीना बीज कारण क्लेशबीज जानन 'हित्वापि' त्यक्त्वापि 'हि.' इति विस्मये 'जलशयास्थानमार्षीन्' जलशयस्य कृष्णस्य आस्थान सभामागच्छत् । शङ्खो जलजः कथ्यते तस्य भावो जलजता तया । नाम्न्येव श्लेषेणार्थान्तरमुद्भावयति कवि.—डलयोरैक्यादन्योऽपि यो जडजो भवति जडाज्जायत इति जडजो मूर्खोद्भव. स क्लेशाना कामक्रोधकलहाभिनिवेशपैशुन्यादीना बीज भवतीत्येषोऽपि जलजः । अपि हीति विरोधोद्भावने । जडजतया क्लेशबीज त्यक्त्वापि यो जडमध्ये शेते इति जडशयो मूर्खाशयवासी तस्य सभामागच्छदिति विरोधः । यदि जलजः क्लेशबीज ज्ञायते तर्हि जलशयास्थाने कथ गम्यत इति । 'च' अन्यत् मुरारिः 'योग्याभूमौ' श्रमभूमिकाया भुजबलपरीक्षार्थं 'त' भगवन्त 'आह्वास्त' आकारितवान् । अस्य यादृश नादबल वर्त्तते दोर्बलमपि तेनानुमानेन वर्त्तते न वेत्यभिप्रायेण तत्परीक्षार्थमेनमाकारितवान् कृष्णः । पर राजीमती तमभिप्राय न वेत्तीति सोऽभिप्रायः साक्षान्नोपनिबद्धः । किंविशिष्टो मुरारिः? 'इदं नेमीशोपक्रम इति ज्ञातपूर्वी' इदमिति श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्षं चम-

स्कारकारित्वाच्च चेतसि जागरूकं शङ्खपूरणं नेमीशस्योपक्रमं नेमीशेनादौ प्रवर्तितम्, "आदावुपक्रमोपज्ञे" (हे० लिङ्गा० न० ११ श्लो०) इति क्लीबत्वम । ननु शङ्खस्तावदनेकैरपि पुरापूरि, अतोऽत्रादित्वं कथं येन क्लीबत्वम्? सत्यम्, परं यादृशः सागरगिरिनगरक्षोभकारी भगवता शङ्खोऽपूर्यत तादृशोऽग्रेऽन्येन केनापि नास्ति पूरित इत्यादित्वम् । तद् ज्ञातं पूर्वमनेनेति ज्ञातपूर्वी "पूर्वमनेन सादेश्चेन" (सि० ७—१—१६७) इति इन्प्रत्ययः । आह्वास्तेति "ह्वः स्पर्द्धे" (सि० ३—३—५६) इत्यात्मनेपदम् । अत्र श्लेषविरोधकाव्यलिङ्गानि । नेमिः शङ्खमापूर्य कृष्णसभां गतः । श्रीकृष्णोऽपि नादबलचमत्कृतो भुजबलपरीक्षार्थं मल्लयुद्धाय स्पर्द्धया भगवन्तमाहूतवान् ॥ ३९ ॥

ध्यात्वा किञ्चिन्मनसि स विभुः श्रीपतिं स्माह बन्धोऽ-
न्योऽन्यं दोष्णोर्नमनविधिनैवावयोरस्तु सेयम् ।
साहस्राणामितरजनवच्चौत्तराधर्यवृत्तं
धत्तेऽभिख्यां निकषकषणं सन्मणीनामिवादः ॥ ४० ॥

स विभुर्मनसि किञ्चिद्ध्यात्वा श्रीपतिं 'आह स्म' उवाच । यदसौ त्रिभुवनस्यापि क्षोभकं मम मुष्टिप्रहारपार्ष्णिघातादिकं कथं सोढेति भगवान् दध्यौ, तच्चातीन्द्रियमिति राजीमती न प्रत्येति, एतदेव कलयति यद्भगवता किञ्चिद्ध्यातम् । अथ भगवान् किमुवाच? हे बन्धो! 'सेयं' भुजबलपरीक्षा आवयोः 'अन्योऽन्यं' परस्परं 'दोष्णोः' भुजयोर्नमनविधिनैवास्तु, एकः एकतरस्य भुजं नामयतीति । अत्र युक्तिमाह—साहस्राणां पुरुषाणामितरजनवदौत्तराधर्यवृत्तं 'अभिख्यां' शोभां न धत्ते । ये सहस्रेण युध्यन्ते ते साहस्रा उच्यन्ते । मल्लयुद्धे एकः एकेनाधःक्रियतेऽन्यस्तूपरि भवतीत्यौत्तराधर्यं, औत्तराधर्येण वृत्तं भवनं औत्तराधर्यवृत्तम् । एतावता सहस्रयोधिनः पुरुषाः सामान्यलोकवन्मल्लयुद्धेऽधःक्रियमाणा उपरि

भवन्तश्च न शोभन्त इत्यर्थः। किमिव? 'सन्मणीनां निकषकषणमिव' यथा प्रधानमणीनां चन्द्रकान्तादीनां निकषे शाणायां कषणं समुत्तेजनमभिख्यां न धत्ते। अत्रार्थान्तरन्यासोपमानानुप्रासाः॥ ४०॥

ओमित्युक्त्वा स्थितवति पुरः केशवे संमुखीनः
स्वाम्यप्यस्थादतरलतनुर्योगनिद्रामवाप्तः।
द्वावप्येतावथ दशधनुष्प्रांशुरिष्टांशुमूर्त्ती
बभ्रासाते इव नगपती सङ्गतावञ्जनाख्यौ॥ ४१॥

'स्वाम्यपि' नेमीश्वरोऽपि 'संमुखीनः' समुखोऽस्थात्। क सति? 'केशवे' कृष्णे ओमित्युक्त्वा 'पुरः' अग्रे स्थितवति सति यद्भगवता भुजयोर्नमनविधिनैव भुजबलपरीक्षाऽस्त्वित्युक्तं तत्प्रतिपद्य स्वामिनोऽग्रे ऊर्ध्वं स्थिते कृष्णे स्वाम्यपि समुखस्तस्थावित्यर्थः। किंविशिष्टो भगवान्? 'अतरलतनु' अतरला निश्चला तनुर्यस्य सः। उत्प्रेक्ष्यते—निश्चलाङ्गतया योगनिद्रामवाप्त इव। 'अथ' अनन्तरं 'एतौ द्वावपि' कृष्णनेमिनौ 'बभ्रासाते' विरेजतुः। किंविशिष्टावेतौ? 'दशधनुष्प्रांशुरिष्टांशुमूर्त्ती' दश धनूंषि प्रांशुरुच्चैस्तरा रिष्टरत्नवदंशवो यस्याः सा रिष्टांशुरीदृशा मूर्त्तिर्ययोस्तौ। उत्प्रेक्ष्यते 'सगतौ' मिलितौ 'अञ्जनाख्यौ' अञ्जननामानौ 'नगपती' महापर्वताविव। अत्र संमुखं मुखं दृश्यतेऽस्मिन्निति समुखीनः। तथा मुखसमुखादीनस्तद्दृश्यतेऽस्मिन्निति ईनः। अत्रोत्प्रेक्षोपमानुप्रासाः॥ ४१॥

दूरापास्तस्फुटरसकलाकेलिकृत्यान्तराया
व्याप्तानन्ताः परिहृतगवो(ऽ)निर्निमेषाक्षिलक्ष्याः।
मर्त्यामर्त्याः समगमत तौ तत्र चित्रीयमाणा
रोदःखण्डे लघु निशमकाः स्थेयवन्निर्विशेषाः॥ ४२॥

'मर्त्यामर्त्याः' नरामरास्तत्र 'रोदःखण्डे' आकाशपृथ्वीमध्ये 'समगमत' अमिलन्। किंविशिष्टा मर्त्यामर्त्याः? 'दूरापास्तस्फुटरसकलाकेलिकृत्यान्तरायाः' तत्र मर्त्यपक्षे दूरेऽपास्तास्त्यक्ताः स्फुटं

प्रकटं रसा मधुराद्या· कला गीताद्याः केलयोऽम्बुविहारान्दोलनपुष्पावचयाद्याः कृत्यान्तराणामापणोपवेशनक्रयविक्रयाद्यानामाया लाभा यैस्ते विमुक्तभोजनकलाभ्यासक्रीडाव्यवसाया इत्यर्थः । अमर्त्यपक्षे दूरेऽपास्तास्त्यक्ताः स्फुट प्रकट रसाः शृङ्गाराद्याः कलाकेलिः कामस्तस्य कृत्यानि क्रीडादीर्घिकालोडनकदलीगृहशयननाट्यदर्शनाङ्गनापरिष्वङ्गादीन्येव प्रकृतप्रयोजन प्रत्यन्तराया यैस्ते । पुनः किंरूपाः? 'व्याप्तानन्ताः' व्याप्ताऽनन्ता पृथ्वी यैस्ते । पक्षे व्याप्तमनन्तमाकाश यैस्ते । पुन· किंरूपा.? 'परिहृतगवः' परिहृता त्यक्ता गीर्वाणी यैस्ते । पक्षे परिहृतो गौ. स्वर्गो यैस्ते । पुन कथभूताः ? मर्त्यपक्षे 'अनिर्निमेषाक्षिलक्ष्या·' निर्निमेषाणि निमेषरहितानि अनिर्निमेषाणि निमेषसहितानि अक्षीणि नेत्राणि तैर्लक्ष्यन्ते ज्ञायन्ते इति । अमर्त्यपक्षे निर्निमेषैर्निमेषरहितैरक्षिभिर्लक्ष्या । अतस्तत्र नरामराणां महासमुदाया नेत्राणा सनिमेषत्वानिमेषत्वाभ्यामेव लक्ष्यमाणा· सन्ति । पुन किंरूपा. 'चित्रीयमाणा.' चित्रमाश्चर्यं कुर्वन्तः । पुन. किंविशिष्टाः ? 'लघु' शीघ्र 'तौ' नेमिकृष्णौ निशमिष्यामो विलोकयिष्याम इति निशमका । पुन. किंरूपाः ? 'स्थेयवन्निर्विशेषाः' स्थेयवत् सभ्यवत् निर्विशेषा विशेषरहिताः । समगमतेति "समो गमृच्छिप्रच्छिश्रुवित्स्वरत्यर्त्तिदृश." (सि० ३—३—८४) इत्यात्मनेपदम् । चित्रङ् सौत्रो धातुः, चित्र करोतीति "नमोवरिवश्चित्रङोऽर्चासेवाश्चर्ये" (सि० ३—४—३७) क्यन्, "क्यनि" (सि० ४—३—११२) ई, चित्रीयन्ते इति वर्त्तमाने "शत्रानशावेष्यति तु सस्यौ" (सि० ५—२—२०) आनशोऽन्त. । निशमका इति शमू दमूच् उपशमे, शम निपूर्वो निशमिष्याम इति "क्रियाया क्रियार्थाया तुमृणकच्भविष्यन्ती" (सि० ५—३—१३) णकच्प्रत्ययः । "मोऽक्रमियमिरमिनमिगमिवमाचम." (सि० ४—३—५५) इति वृद्धिनिषेध । स्थेयवदिति हैमानेकार्थे "स्थेयोऽक्षदृक्पुरोधसोः"

इति स्थेयः । अत्राक्ष न्याय व्यवहार पश्यतीत्यक्षदृग् न्यायदर्शक इत्यर्थः । अत्र श्लेषसमुच्चयोदात्तोपमानानि ॥ ४२ ॥

अग्रे भर्तुर्निजभुजमथो मत्तहस्तीव हस्तं
व्यातत्यास्थाद्यदुपरिवृढो दक्षिणं पुष्कराग्रम् ।
यस्य द्युम्नाम्बुधिपरतटं राजकान्यप्यवापुः
स्कन्धावारैः सह नहि परोलक्षसद्यानपात्रैः ॥ ४३ ॥

'अथो' अनन्तर 'यदुपरिवृढ' कृष्णो भर्तुरग्रे दक्षिण निजभुज 'व्यातत्य' विस्तार्य अस्थात् । किंविशिष्ट निजभुजम्? 'पुष्कराग्र' पुष्करेण कमलेन अग्र प्रधानम् । करे कमल हि लक्षण वर्त्तते । अथवा पुष्करवत् कमलवदग्र यस्य तम् । क इव? 'मत्तहस्तीव' यथा मत्त-हस्ती 'हस्त' शुण्डादण्ड व्यातत्य तिष्ठति । किंरूप हस्तम्? पुष्कर—पुष्करसज्ञकमग्र यस्य त पुष्कराग्रम । शुण्डादण्डस्याग्र पुष्कर कथ्यते । अथ भुजस्य बलमानमाह—'राजकान्यपि' राजसमूहा अपि 'स्कन्धावारै.' महासैन्यै सह 'यस्य' भुजस्य 'द्युम्नाम्बुधिपरतट' बलसमुद्रपार नावापुः । एतावता षोडश राजसहस्रा ससैन्या अपि यस्य भुजस्य बलपार न यान्ति ''सोलस रायसहस्सा०'' इत्यागमप्रामाण्यात् । किंविशिष्टैः स्कन्धावारैः? 'परोलक्षसद्यानपात्रै' परोलक्षाणि—लक्षातीतानि सन्ति—प्रधानानि यानानि—वाहनानि गजाश्वरूपाणि तेषा पात्रैः—स्थानै. । श्लेषेण प्रतीयमानमर्थान्तर यथा—अम्बुधे.—समुद्रस्य तीर स्कन्धावारैर्लोकरूढिप्रसिद्धैरत्यन्तगरिष्ठवहनसमूहैर्न प्राप्यते । किंरूपैः स्कन्धावारैः? परोलक्षाणि सन्ति—विद्यमानानि यानपात्राणि प्रवहणानि येषु । अत्र राज्ञा समूहा राजकानि ''गोत्रोक्षवत्सोष्ट्रवृद्धाऽजोरभ्रमनुष्यराजराजन्यराजपुत्रादकञ्'' (सि० ६–२–१२) इत्यकञ् । लक्षात्पराणि परोलक्षाणि ''परःशतादि'' (सि० ३–१–७५) इति पञ्चमीतत्पुरुषः । सूत्रबलादेव परः सविसर्गः । अत्रोपमाश्लेषोदात्तानि ॥ ४३ ॥

हस्ते सव्ये स्पृशति किमपि स्वामिनोऽनेकपस्या-
नंस्तास्कन्ध हरिभुजलता सा स्वयं स्तब्धितापि ।
मेरुं दण्डं क्षितितलमथ च्छत्रमाधातुमीष्टे
यस्तस्यैतत्किमिति च सुरास्तत्र संप्रावदन्त ॥ ४४ ॥

सा हरिभुजलता 'स्तब्धितापि' भृश दृढीकृतापि 'आस्कन्ध' स्कन्ध यावत् स्वय 'अनस्त' नता । क सति ? 'स्वामिनः' श्रीनेमिनाथस्य 'सव्ये' वामे हस्ते 'किमपि' अल्पमात्र स्पृशति सति । स्वामिना मनागेव वामभुजेन लीलयाऽऽक्रम्य कृष्णस्य बाहा स्कन्ध यावद्वालितेत्यर्थः । किरूपस्य स्वामिन. ? 'अनेकपस्य' अनेकान् पाति रक्षतीत्यनेकपस्तस्य । अत्र प्रतीयमानमर्थान्तरम्—अन्यस्याप्यनेकपस्य हस्तिनो हस्ते—शुण्डादण्डे किञ्चित्स्पृशति सति लता 'आस्कन्ध' यावत्प्रकाण्ड नमति । 'च' अन्यत् 'सुरा' देवा 'तत्र' समये इति 'संप्रावदन्त' सभूय सममेवोचुः । इतीति किम् ? 'य.' भगवान् मेरु दण्ड 'अथ' अनन्तर 'क्षितितल' पृथ्वीतल छत्र 'आधातु' रचयितु 'ईष्टे' समर्थो भवति तस्य 'एतद्' हरिभुजावालन 'किम् ?' न किञ्चिदित्यर्थः । अनस्तेति "भूपार्थसन्किरादिभ्यश्च ञिक्यौ" (सि० ३-४-९३) इति कर्मकर्तरि ञिक्निषेधः । स्वामी बाहामनमयद्, बाहा स्वयमनस्त । आस्कन्धमिति "पर्यपाङ्बहिरच् पञ्चम्या" (सि० ३-१-३२) अनेन पञ्चम्यव्ययीभावः । संप्रावदन्तेति "व्यक्तवाचा सहोक्तौ" (सि० ३-३-७९) इत्यात्मनेपदम् । सव्ये हस्ते इति पर्यायोक्तम् । स्वामिनाऽक्लेशेन बाहा वालितेत्यर्थस्य लभ्यमानत्वात्किमपीति पदमेतदर्थोद्योतकम् । भुजलतेति समासोक्तम् । मेरु दण्डमित्यर्थान्तरन्यास , निषेध उदात्तं वा, युगपत्क्रियारूपः समुच्चयश्च । "निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।" (का० १०, १०६) इति ॥ ४४ ॥

मद्दोर्दण्डोऽप्यहह सहसा नागलक्षैरनम्यः
श्रीशैवेयं प्रति कथमसौ पद्मतन्तूयते स्म ।
यद्वा न्यायोऽजनि विधिवशात्काकतालीयकोऽसौ
तत्कृत्वाऽस्य प्रतिकृतिमहं तुल्यवीर्योऽप्यसानि ॥ ४५ ॥
आस्यच्छायैरिति निगदतो देवकीनन्दनस्य
त्रैलोक्येशस्तृणितकुलिशं वाममायंस्त बाहुम् ।
अन्तःपङ्काकुलितकलितातङ्कलोकस्य दित्सुः
कारुण्येनाशुभदिव तदा चैष हस्तावलम्बम् ॥४६॥ युग्मम् ॥

'त्रैलोक्येशः' श्रीनेमिनाथो वाम बाहु 'आयस्त' विस्तारयामास । कस्य किकुर्वत.? 'देवकीनन्दनस्य' कृष्णस्य 'आस्यच्छायै.' मुखच्छायाभिरिति निगदत सत । इतीति किम्? मद्दो० 'अहह' इति खेदे, असौ 'मद्दोर्दण्डोऽपि' मम भुजादण्डोऽपि 'सहसा-झटिति 'श्रीशैवेयं प्रति' श्रीनेमिनाथ प्रति कथ 'पद्मतन्तूयते स्म?' पद्मतन्तुरिवाचरति स्म? । यथा पद्मतन्तु. सुखेन नम्यते तथा नत इत्यर्थ । किरूपो मद्दोर्दण्डः? 'नागलक्षै.' गजलक्षैर' नम्यः । इति प्रथमचिन्तायामतिश्यामा मुखच्छाया । 'यद्वा अथवा असौ विधिवशान् 'काकतालीयको न्यायोऽजनि' यथा तालस्याध. काको निविष्टोऽकस्मात्तालफले पतिते काको विनष्टः, एव मद्बाहुरपि दैवानुभावादेव सहसा नतो न तु नेमिनोऽधिका बलसभावनेति द्वितीयचिन्ताया मध्यमा मुखच्छाया । 'तत्' तस्मात्कारणादहमस्य प्रतिकृति कृत्वा तुल्य वीर्य बल यस्य ममेति तुल्यवीर्योऽपि 'असानि' भवानि । यथाऽनेन मद्बाहुर्नामितस्तथाऽहमप्येतस्य बाहु नमयामीति प्रतिकृतिरिति चिन्ताया हृष्टप्राया छाया । किंविशिष्ट बाहुम्? 'तृणितकुलिश' तृणीकृत कुलिश—वज्र येन स तम्, वज्रमपि यस्याग्रेऽसारत्वात्तृणप्रायमिवेत्यर्थ. । 'च' अन्यत्तदा 'एषः' भगवान् 'अन्तःपङ्काकुलितकलितातङ्कलोकस्य कारुण्येन

हस्तावलम्ब दित्सुरिवाशुभन्' पङ्कः पाप कर्दमश्च पङ्कस्यान्तरन्त - पङ्क अन्तःपङ्क आकुलित कलित आतङ्को येन स कलि-तातङ्क· अन्त.पङ्काकुलितश्चासौ कलितातङ्कश्च अन्त·पङ्काकुलित-कलितातङ्क·, अन्त.पङ्काकुलितकलितातङ्कश्चासौ लोकश्च अन्त - पङ्काकुलितकलितातङ्कलोकस्तस्य बाहु विस्तार्य स्थितो भगवान । पङ्कमध्ये आकुलिताना सभयाना लोकाना समुद्धरणाय कारुण्येन हस्तावलम्ब दास्यतीति ज्ञायते । अत्र काकतालस्य तुल्य काक-तालीय "काकतालीयादय" (सि० ७–१–११७) इति साधु-स्तत स्वार्थे क. । असानीति असक् भुवि, अस्, "प्रैषानुज्ञाव-सरे कृत्यपञ्चम्यौ" (सि० ५–४–२९) इति पञ्चमी, तत आनिव्प्रत्यये सिद्धम । आस्यच्छायैरिति "सेनाशालासुराछाया" (हे० लि० नपु० १२ श्लो०) इति न पुस्त्वम । तृणितेति तृणमक-रोन् "णिज्बहुल नाम्न. कृगादिषु" (सि० ३–४–४२) णिच्, "त्र्यन्त्यस्वरादे" (सि० ७–४–४३) अन्त्यस्वरलोप· । तृण्यते स्म क्त, इट्, 'सेट्क्तयो·' (सि०४–३–८४) णिज्लोपः । आयस्तेति "आङो यमहन स्वेऽङ्गे च" (सि० ३–३–८६) इत्यात्मनेपदम । अत्र मद्दो० द्रव्यक्रियाविरोध उपमा पर्यायोक्त च । पद्मलन्तूयते स्मेति नम्रीभूत इत्यर्थस्य वाच्यमानत्वाद् यद्वेत्यर्थान्तरन्यास· । आस्यच्छायैरित्यनुमानम् । अन्त पङ्का० उत्प्रेक्षा ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

पूर्वं पार्ष्णी तदनु सकले गोहिरे भूमिपीठा-
दुच्चैर्नीत्वा भुजबलचयीः पीडयन् सर्वदेहम् ।
अत्यायस्यन्नपि हरिरुभापाणि नानीनमत्तां
बाहामब्धिप्रसृतहिमवद्दीर्घदंष्ट्रामिवेभः ॥ ४७ ॥

'हरि·' कृष्ण उभापाणि यथा भवति 'अत्यायस्यन्नपि' अतिय-तमानोऽपि ता बाहा नाऽनीनमत् । उभाभ्या पाणिभ्या कृत्वा उभापाणि, एकेन बाहुनाऽऽक्रान्तो हस्तो यदा न नमति तदा

द्वाभ्यामपि भुजाभ्यामाक्रान्त इत्यर्थ । तत्र भुजानमने श्रीकृष्णस्य प्रयासातिरेकमाह—कि कृत्वा पूर्व पार्ष्णी तदनु सकले गोहिरे भूमिपीठादुच्चैर्नीत्वा । पार्ष्णि पादाग्रम् । गोहिर पादमूलम । किरूपो हरि ? 'भुजबलचयी' भुजे बलस्य चयमिच्छन् । कि कुर्वन ? 'सर्वदेह पीडयन' सर्वस्यापि शरीरस्य प्राण भुजे एव समागच्छतीति कृत्वा । क इव ? 'इभ इव' यथा इभ 'अब्धिप्रसृतहिमवद्दीर्घदंष्ट्राम' न नमयति अब्धौ–समुद्रे प्रसृता–विस्तीर्णा दीर्घा चासौ दंष्ट्रा च दीर्घदंष्ट्रा हिमवतो दीर्घदंष्ट्रा हिमवद्दीर्घदंष्ट्रा ताम । हिमवान पर्वतो जम्बूद्वीपाद्बहिर्लवणसमुद्रे दंष्ट्राकारेण पूर्वस्या पश्चिमाया षट्पष्टियोजनशतानि दीर्घो वर्त्तते । अत्र भुजबलचयीर्भुजबलस्य चयमिच्छतीति "अमाव्ययात्क्यन् च" (सि० ३–४–२३) क्यन् प्रत्यय , "क्यनि" (सि० ४–३–११२) यी भुजबलचयीयतीति "क्विप्' (सि० ५–३–१४८) क्विप् , "अत " (सि० ४–३–८२) अलोप , "यो· ग्वयूव्यञ्जने लुक्" (सि० ४–४–१२१) यलोप., "अप्रयोगीत" (सि० १–१–३७) क्विप्लोपः सि, "सो रु." (सि० २–१–७२) । उभाभ्या पाणिभ्या कृत्वा उभापाणि "द्विदण्ड्यादि·" (सि० ७–३–७५) इच्प्रत्यय उभापाणीति निपात "क्रियाविशेषणात्" (सि० २–२–४१) अम् , लोपश्च । अत्र विशेषोक्तिपरिकरोपमानानि ॥ ४७ ॥

अद्रेः शाखां मरुदिव मनाक्चालयित्वा सलीलं
स्वामी बाहां हरिमिव हरि दोलयामास विष्वक् ।
तुल्यैर्गोत्राजयजयरवोद्घोषपूर्व च मुक्ताः
सिद्धस्वार्थ दिवि सुमनसस्तं तृषेवाभ्यपप्तन् ॥ ४८ ॥

स्वामी 'विष्वक्' समन्तात् 'हरिमिव' वानरमिव 'हरि' कृष्ण दोलयामास । कि कृत्वा ? सलील यथा भवति बाहा मनाक् चालयित्वा । क इव ? 'मरुदिव' वायुरिव यथा मरुद् 'अद्रेः'

वृक्षस्य शाखा चालयित्वा हरि वानर दोलयति । 'च' अन्यत् सुमनस त भगवन्त अभ्यपप्तन् । किंविशिष्टा सुमनसः ? 'गोत्रान्' नाम्नः 'तुल्यै' सुमनोभि. 'दिवि' आकाशे जयजयरवो-द्घोषपूर्व मुक्ताः । सुमनसो देवा पुष्पाणि च । गगनाङ्गणे देवै-र्जयजयारावमुखरद्भि· कुसुमवृष्टि· कृतेत्यर्थ· । किंरूप तम ? 'सिद्धस्वार्थ' सिद्धो निष्पन्नः स्वार्थ आत्मार्थो यस्य तम् । उत्प्रेक्ष्यते 'तृषा इव' लोभेनेव यथान्येऽपि गोत्रादन्वयात्तुल्यै सगो-त्रैर्मुक्ता आक्षिप्तास्तृष्णया सिद्धस्वार्थ पुरुषमभिपतन्ति । सिद्धो –निष्पन्न स्व–आत्मीयोऽर्थो यस्मात्तम् । ये गोत्रिभिर्मुक्ता भवन्ति ते निराधारा. सन्तो यस्मात्स्वार्थ. सिध्यति लोभेन त श्रयन्ति । अद्रे-रित्यनेकार्थमपि पर शाखासयोगाद्वृक्षवाचकमिति न सदिग्धदोष । "तृट् तृष्णावत्तर्षवच्च भवेल्लिप्सापिपासयोः ।" (हैम अने० १–१५) इति तृट लोभवाची । अत्रोपमाशब्दश्लेषोत्प्रेक्षाक्रियासमुच्चया ॥४८॥

वीक्षापन्नोऽप्यधिहसमुखो दोषमुन्मुच्य दोष्मा-
नङ्कपालिं ददिति हरिः स्वामिनं व्याजहार ।
भ्रातः! स्थाम्ना जगति भवतोऽजय्यमेवासमद्य
प्रद्युम्नाग्नी इव मधुनभःश्वाससाहायकेन ॥ ४९ ॥

'हरि.' कृष्ण. 'अङ्कपालिं' आलिङ्गन ददत्सन स्वामिन इति 'व्याजहार' उवाच । किंरूपो हरिः ? 'वीक्षापन्नोऽपि' विलक्षोऽपि 'अधिहसमुखः' अधिको हसो हास्य यस्मिन्नेवविध मुख यस्य । कि कृत्वा ? 'दोष' भुजमुन्मुच्य, 'दोष्मान्' बलिष्ठ· । किमाह ? हे भ्रात ! अद्याह भवतः 'स्थाम्ना' बलेन 'जगति' विश्वे अजय्य एव 'आस' अभवम् । परैर्जेतुमशक्योऽजय्य· । अग्रेऽप्यह बलवा-नस्मि पर त्वद्बलेन सर्वत्राप्यजय्यो भविष्यामीत्यर्थ । काविव ? 'प्रद्युम्नाग्नी इव' यथा प्रद्युम्नाग्नी कामानलौ 'मधुनभ.श्वाससाहाय-केन' मधु·–वसन्तो नभ.श्वासो-वायुस्तयो. साहाय्येनाजय्यौ भवत. ।

जेतुमशक्योऽजय्य:, "य एचात" (सि० ५–१–२८) यप्रत्यय: "क्षय्यजय्यौ शक्तौ" (सि० ४–३–९०) इति निपात । वीक्षापन्नोऽपीत्यादि वैर्यव्यभिचारिभावोदय: । उदात्तमालोपमानुप्रासा ॥ ४९ ॥

तेनात्यन्तं किमपि हलिनालोच्य सौभ्रात्रभाजा
सर्वस्वेच्छाललनविषयेऽभ्यर्थितोऽत्यादरेण ।
भ्राजिष्णुश्रीरथ स विदधन्नर्मकर्माणि जिष्णोः
शुद्धान्तेऽप्यस्खलितगतिकोऽद्वेषरागश्चिखेल ॥ ५० ॥

'अथ' अनन्तर 'स' भगवान 'जिष्णो' कृष्णस्य 'शुद्धान्तेऽपि' अन्त पुरेऽपि 'नर्मकर्माणि' हास्यकर्माणि 'विदधन' कुर्वन अस्खलितगतिकः सन् 'चिखेल' चिक्रीड । किरूप: स:? 'तेन' कृष्णेन 'हलिना' बलदेवेन सह किमप्यत्यन्तमालोच्य 'सौभ्रात्रभाजा' सुभ्रातृत्वभाजा सता सर्वस्वेच्छाललनविषयेऽत्यादरेणाभ्यर्थित । सर्वस्वेच्छया ललन–क्रीडन तद्विषये, सम्बन्धश्चायम्—"तदा कृष्णः श्रीनेमिना सह प्रीतिवार्त्ता विधाय बलदेवेन सह मन्त्रार्थं लक्ष्मीगृहमगान् तत्र बह्वालोचितम् । राज्ञा गृटमन्त्रत्वाद्राजीमती न वेत्ति किमालोचितमिति । तत्र श्रीकृष्णो बलदेवमेवमवादीन्, यद्बन्धो! दृष्टं नेमिबाहुबलम्? । एष 'कीटिकासञ्चित तित्तिरिश्चिनोति' इति न्यायेनात्मभिर्भूरितरसंग्रामक्लेशकोटिभि समर्जित राज्यमवसरे हेलया लास्यतीति नास्य विश्वास. कर्तुमर्हं इति यावद्वक्ति तावल्लक्ष्मीदेव्या 'नेमिकुमार पाणिग्रहणराज्याङ्गीकरणपराङ्मुख एव प्रव्रजिष्यति' इति श्रीनमिनाथेनोक्तमस्तीत्यूचे, तच्छ्रवणाद्विमुक्तशङ्क समुल्लसितनिबिडभ्रातृस्नेह स्वसौधमागत्य श्रीनेमिनमाकार्य सस्नेहमूचिवान । बान्धव! त्वयाऽस्मदनुग्रहार्थं मत्सौधान्त.पुरेऽपि स्वभ्रातृजायाभिः सह नि.शङ्कतया नर्मकर्मादिक्रीडा कर्त्तव्या ।" किरूपः? भ्राजिष्णुर्देदीप्यमाना श्री शोभा यस्य स भ्राजिष्णुश्री. ।

पुन किरूप ? 'अद्वेषराग.' अन्त पुरे स्वजनेच्छया क्रीडन्नपि भगवान् रागद्वेषकलङ्ककणिकारहित एव । अत्र सौभ्रात्रमिति शोभनो भ्राता सुभ्राता सुभ्रातुर्भाव· सौभ्रात्रम , "युवादेरण्" (सि० ७–१–६७) अण्प्रत्ययः । भ्राजते इत्येव शील. "भ्राज्य-लङ्कृग्निराकृग्–" (सि० ५–२–२८) इष्णुप्रत्यय. । अत्र परिकरविशेषोक्त्यनुप्रासाः । नर्मकर्मादिकारणेऽपि रागद्वेषानुत्पत्ति-र्विशेषोक्ति. ॥ ५० ॥

इत्याचार्य-श्रीशीलरत्नसूरिविरचिताया श्रीजैनमेघदूत-महाकाव्यटीकाया प्रथम सर्ग ॥ १ ॥



द्वितीयः सर्गः ।

प्रथमे सर्गे श्रीनेमिनो रूपवर्णनादनु शङ्खपूरणहरिभुजानामनादिक्रीडोक्ता । अथ वसन्तक्रीडाप्रस्तावनार्थं वसन्तवर्णनमाह—

एवं दिष्टे व्रजति जनयन्नध्वनीनाङ्गनानां
विश्वस्तत्वं यमनियमभीदायको व्याप्तविश्वः ।
विश्वाधीशं प्रति रतिपतेरभ्यमित्रीणतस्तं
प्रादुर्भूतः सुरभिरभितः किं नु नासीरवीरः? ॥ १ ॥

'एव' अमुना प्रकारेण विविधक्रीडाकौतुकेन 'दिष्टे' काले व्रजति सति 'अभित.' समन्तात् 'सुरभिः' वसन्तः 'प्रादुर्भूतः' प्रकटीबभूव । किंभूतः सुरभिः? 'नु' इति वितर्के 'रतिपते.' कामस्य किम्? 'नासीरवीर.' नासीरमग्रयान तत्र वीरो नासीरवीर.—अग्रेसरवीर. सेनानीरित्यर्थः । कि कुर्वन्? 'अध्वनीनाङ्गनानाम्' पथिकस्त्रीणा 'विश्वस्तत्व' विधवत्व जनयन्, वसन्ते हि फलितपुष्पितलताविलोकनकोकिलाकूजितश्रवणदक्षिणपवनादिभिरुन्मादजनकैर्वियोगार्त्तीना पथिकाना मरणसद्भावात् । पक्षेऽध्वनीनाङ्गनाना विश्वस्तत्व विश्वाससहितत्व जनयन् सेनानी' हि अग्रग सन् त्रस्यन्तीना स्त्रीणा मा भैर्षुरिति[1] विश्वास जनयति । पुन किंभूत.? 'यमनियमभीदायकः' यमा.—पञ्चव्रतानि नियमाः सत्यशौचाद्यास्तेषा भिय ददातीति यमनियमभीदायक. । पक्षे यमवन्नियम बन्धन तस्य भिय ददातीति यमनियमभीदायकः । सेनान्यमागच्छन्तमकस्माद्विलोक्य जना बन्धनाद्बिभ्यति । पुन' किंरूपः? व्याप्त विश्व येन सः । पक्षे व्याप्ता विश्वा पृथ्वी येन स. । किंभूतस्य रतिपतेः? त 'विश्वाधीश' श्रीनेमिन प्रति 'अभ्यमित्रीणतः' अभ्यमित्रीण इवाचरत, सज्जीभूय युद्धाय योऽभिमुख गच्छति सोऽभ्यमित्रीण. । श्रीनेमिन जिगीषो. कामस्य सेनानीरिव

---

१ "भैष्ट इति" इति प्रत्यन्तरे

वसन्ततुं समेत इत्यर्थ । अध्वानमत्यन्त गच्छतीति "अध्वान येनौ" (सि० ७–१–१०३) ईनप्रत्ययः । अमित्रमभि अत्यन्त गच्छतीति "अभ्यमित्रमीयश्च" (सि० ७–१–१०४) ईनप्रत्यय., "रपूवर्णान्नो ण एकपदेऽ–" (सि० २–३–६३) नो ण, अभ्यमित्रीण इवाचरतीति "कर्तु क्विप्–" (सि० ३–४–२५) अप्रत्यय॰, अभ्यमित्रीणतीति वर्त्तमाने शतृ । "प्रादुराविः प्रकाशे" (अ० चिं० का० ६ श्लो० १७५) । श्लेष उत्प्रेक्षा ॥ १ ॥

अथ रतिपतेरभ्यमित्रीणत इत्युक्त तत्र वसन्तवर्णने कामस्य युद्ध-सज्जतामष्टभि काव्यै कथयति कवि —

वानस्पत्याः कलकिशलयैः कोशिकाभिः प्रवालै-
स्तस्याराजन्निव तनुभृतो रागलक्ष्मीनिवासाः ।
उद्यन्मोहप्रसवरजसा चाम्बर पूरयन्तोऽ-
भीकाभीष्टा मलयमरुतः कामवाहाः प्रसस्रुः ॥ २ ॥

पूर्व पुष्पाणि तदनु फलानि येषा स्युस्ते वनस्पतय., "पुष्पैस्तु फलवान् वृक्षो वानस्पत्यो विना तु तैः ॥ फलवान् वनस्पतिः स्यान्" (अ० चिं० का० ४ श्लो० १८१-१८२) इति 'वानस्पत्या॰' वृक्षा. 'तस्य' रतिपते 'तनुभृत.' मूर्त्ताः रागलक्ष्मीनिवासा इव अराजन् । अन्यस्मिन्नपि सैन्ये लक्ष्मीयुक्ता निवासा भवन्ति, कामस्य लक्ष्मी राग एव, तस्या मूर्त्तिमन्तो निवासा इव वृक्षा॰ । कैः ? 'कलकिशलयै.' नवीनतरमनोज्ञपत्रै. 'कोशिकाभि॰' प्रवालोत्पत्तिकारणशुङ्गाभिः 'प्रवालै.' नवीनतरपल्लवै , एते सर्वेऽपि रक्ता भवन्ति अतो रागत्वेऽपि वितर्किता । 'च' अन्यत् 'मलयमरुत.' मलयाचलसम्बन्धिवायव. 'प्रसस्रु॰' प्रसृता॰ । किंरूपा मलयमरुत. ? उद्यन् उदय गच्छन् मोहो मनोरागो येभ्यस्ते उद्यन्मोहा. प्रसवा॰—पुष्पाणि तेषा रजसा किञ्जल्केन 'अम्बरम्' आकाश पूरयन्त॰ । पुन॰ किंरूपा. ? अभी-काना कामिनामभीष्टा. । पुनः कथभूता. ? कामेन स्वेच्छया वाहो

वहनं मार्गातिक्रमण येषा ते, अथवा कामस्य वाहा –हया इव काम-वाहा मलयानिला एव कामस्य वाहा., वाहाः कीदृशा भवन्ति ? उद्यन प्रबलीभवन् मोहस्य मौढ्यस्य प्रसव उत्पत्तिर्यस्मात् ईदृशेन रजसा रेणुना आकाश पूरयन्त', तुरङ्गा. (हि) वेगेन गच्छन्तः खुराघातैर्भूरेणुमुत्पाटयन्ति, तेन च पदार्थानामदर्शनेन मौढ्य स्यात् । पुन कथभूता. ? अभीका निर्भया' तेषामभीष्टा', कातरा हि पातनपदाघातादिभीत्या तुरगाणामासन्न एव नायान्ति । अत्रा-पह्नुतिरूपकश्लेषोत्प्रेक्षा' ॥ २ ॥

रेजुः क्रीडौपयिकगिरयो राजतालीवनाढ्याः
श्यामाः कामं किशलितनगा निष्कमोचापरीताः ।
सन्नह्यन्तः स्मरनरपतेः केतनव्रातकान्ताः
सिन्दूराक्ता इव करटिनो वर्ण्यसौवर्णवर्णाः ॥ ३ ॥

क्रीडौपयिकगिरयो रेजु क्रीडाया –वनविहारपुष्पावचयनजला-वगाहनादिरूपाया औपयिकाः–योग्या. (गिरय) 'रेजु.' अशु-भन् । किंरूपा. ? राजतालीवनानि–श्रीताडवनानि तैराढ्या' समृद्धा, श्यामा, 'कामम्' अत्यर्थं किशलिताः सञ्जातकिशलया' नगा.–वृक्षा येषु ते । निष्क–सुवर्ण तद्रूपा मोचा.–कदल्य ताभि' सुवर्णकदलीभिः परीताः–वेष्टिताः । उत्प्रेक्ष्यते—'स्मरनरपते' कामभूपस्य सन्नह्यन्त. 'करटिन.' गजेन्द्रा इव । किंरूपा करटिन. ? केतनाना–ध्वजाना व्रातेन–समूहेन कान्ता. । सिन्दूरेण अक्ता लिप्ताः । वर्ण्यो वर्णनीय. सौवर्ण' सुवर्णमयो वर्णो गुडिर्येषा ते "कुथे वर्ण-परिस्तोम." (अ० चि० का० ३–३३४) इति वचनात् । राजतालीवनानि केतनव्राताः, किशलयानि सिंदूर., सुवर्णकदल्यः सुवर्णकुथाः, वनै श्यामीभूताः पर्वता करिण इति साधर्म्यम् । "राजृग् टुभ्राजि दीप्तौ"राज्धातोः परोक्षा उसि प्रत्यये "जृभ्रम–" (सि० ४–१–२६) इति एकारे रेजुरिति रूपम्, भ्रेजुरिति न

भवति भ्राजिधातोरात्मनेपदीयत्वादेव । उपाय एव औपयिक "उपायाद् ह्रस्वश्च" (सि० ७–२–१७०) इकण् ह्रस्वः। किशलानि सजातानि येषु ते किशलिता. "तदस्य सञ्जत तारकादिभ्य इत·" (सि० ७–१–१३८) इतप्रत्यय· । सुवर्णस्य विकारोऽवयवो वा सौवर्ण "हेमादिभ्योऽञ्" (सि०६–२–४५) अञ्प्रत्ययः । अत्रोत्प्रेक्षारूपकानुप्रासाः ॥ ३ ॥

कासारान्तः शुचिखगरुचिः स्मेरराजीवराजी
रेजे राजप्रतिमकमनस्यातपत्रावलीव ।
शोभां भेजुः कुसुमिततमाः कुन्दशालासु गुल्मा
वातोद्धूता मरकतमहादण्डसच्चामराणाम् ॥ ४ ॥

'कासारान्त' सरोमध्ये 'स्मेरराजीवराजी' विकस्वरकमलश्रेणी रेजे । उत्प्रेक्ष्यते—'राजप्रतिमकमनस्य' भूपरूपकामस्य 'आतपत्रावलीव' छत्रावलीव । किरूपा स्मेरराजीवराजी ? 'शुचिखगरुचि·' शुचिरुज्वल खगः—पक्षी राजहसस्तेन रुचिः—शोभा यस्या, अथवा शुचौ निर्मले खगे श्रीसूर्ये रुचि·—इच्छा यस्या सा सूर्यस्य प्रबोधदायित्वात्, पक्षे शुचि —पवित्रा खगा—आकाशगामिनी रुचि· कान्तिर्यस्या., अथवा शुचे —आषाढस्य खग —सूर्य तद्वद्रुचि —कान्तिर्यस्या सा । 'कुन्दशालासु' कुन्दाना शाखासु 'गुल्मा.' स्तम्बा· 'मरकतमहादण्डसच्चामराणा शोभा भेजु·' मरकतरत्नस्य महादण्डे सन्त —प्रशस्ताश्चामरास्तेषाम् । किरूपा गुल्मा ? 'कुसुमिततमाः' अत्यर्थ सजातकुसुमा । पुनः किरूपा. ? वातेन उत्प्राबल्येन धूता·—कम्पिताः । शाखा मरकतदण्डाः, गुल्मा चामरा· । अत्र श्लेषोत्प्रेक्षाऽनुप्रासोपमापर्यायोक्तानि ॥ ४ ॥

संक्रीडन्तः सुषममभितो राजहंसाः सरस्सु
प्राक्रीडन्त प्रति परपुर कम्बवो नु प्रवेश्याः ।
चूताच्चूतान्तरमभियती रक्ततुण्डायताली
लीला दध्रे दलकिशलयामुक्तमङ्गल्यदाम्नः ॥ ५ ॥

राजहसा. सरस्सु 'प्राक्रीडन्त' प्रकर्षेण अक्रीडन् । किं कुर्वन्तः ? 'सुषम' मनोज्ञ यथा भवति 'अभितः' समन्तात् 'सक्रीडन्तः' कूजन्तः, किरूपा राजहसाः ? 'नु' इति वितर्के अधिकारात् कामनरेन्द्रस्य परपुर प्रति 'प्रवेश्याः' प्रवेशे साधवः 'कम्बव ' शङ्खाः, अन्योऽपि राजा यदा परस्य वैरिणः पुर प्रविशति तदा शङ्खा वाद्यन्ते, कामस्यापि परस्य-अन्यस्य पुर-शरीर प्रति प्रवेशे कूजन्तो राजहसा एव शङ्खाः । 'चूतात्' आम्रात् चूतान्तरम् 'अभियती' अभिमुख गच्छन्ती 'रक्ततुण्डायताली' रक्ततुण्डाः शुकास्तेषामायता दीर्घा आली—श्रेणिः 'दलकिशलयामुक्तमङ्गल्यदाम्न ' दलैः—पत्रैः किशलयैश्च यत् आमुक्त बद्ध मङ्गल्यदाम वन्दनमालिका तस्य लीला दधे । दलस्थानीया नीलवर्णा. शुका , पल्लवस्थानीयानि तेषामारक्तानि मुखानि, यदैकस्मादाम्राद्उड्डीय श्रेणिबद्धा नीलवर्णा आरक्तमुखा॰ शुकाः समकालमेव सहकारान्तरमभियान्ति तदा कामराजस्य परपुर प्रति प्रवेशे वन्दनमालिकाशोभा भवति । सक्रीडन्त इत्यत्र कूजनार्थत्वात् परस्मैपदित्वे शतृप्रत्यय , अन्यथा "क्रीडोऽकूजने" (सि० ३—३—३३) इति सूत्रेण सपूर्वकस्य क्रीडधातोरात्मनेपदित्व स्यात् । प्राक्रीडन्तेति "क्रीडृ विहारे" प्र-आङ्पूर्वक., "अन्वाङ्परे." (सि० ३—३—३४) इत्यात्मनेपदम् । अभियती इत्यत्र "इणक् गतौ" इ अभि एतीति वर्तमाने "शत्रा—" (सि० ५—२—२०) शतृप्रत्यय. अत् , "ह्विणोरप्विति व्यौ" (सि० ४—३—१५) (इति) यत्वम् । "ममिभजद्रक्त—" इति अपपाठ. । अत्रोत्प्रेक्षानिदर्शनानुप्रासा॰ ॥ ५ ॥

उच्चैश्चञ्चुः प्रतिदिशमविस्पन्दमाकन्दनाग-
　स्कन्धारूढाः कलकलरवान् कोकिलाः कान्तकण्ठाः ।
संनह्यन्तं त्रिभुवनजये कामराजं जिगीषून्
　नग्नप्रष्ठा इव यतिभटान् धीरमाह्वानयन्तः ॥ ६ ॥

कोकिलाः 'प्रतिदिश' दिश दिश प्रति उच्चै. 'कलकलरवान्' कलकलशब्दान् चक्रु । किंरूपाः कोकिलाः ? अविस्पन्दः—निश्चलो माकन्दनागः—सहकारवृक्षः तस्य स्कन्ध—प्रकाण्ड तत्रारूढाः । पुनः किं विशिष्टाः ? 'कान्तकण्ठा·' स्फुटम् । पुन· किंरूपा ? उत्प्रेक्ष्य-(क्ष)ते—यतय एव भटाः सुभटाः तान् 'धीर' सावष्टम्भ यथा भवति आह्वानयन्तो 'नम्रप्रष्ठा इव' नम्रा—बन्दिनस्तेपु प्रष्ठाः—श्रेष्ठाः, सङ्ग्रामे हि बन्दिनो वशपराक्रमादिवर्णन कुर्वन्त· सुभटान् परस्परमुत्थापयन्ति । किंरूपा नम्रप्रष्ठाः ? 'अविस्पन्दमाकन्दनाग-स्कन्धारूढा.' न विद्यते विस्पन्दश्चलन यस्या. साऽविस्पन्दा, अवि-स्पन्दाया निश्चलाया मायाः लक्ष्म्या· कन्दो यो नागो हस्ती तस्य स्कन्धमारूढा· । किंरूपान् यतिभटान् ? त्रिभुवनजये 'सनह्यन्त' सज्जीभवन्त कामराज 'जिगीषून्' जेतुमिच्छून् । सर्वदिशासु सह-कारारूढा. कोकिलाः कलकलरव कुर्वाणास्त्रिभुवनजयबद्धकक्ष कामराज प्रति युद्धाय यतिभटानाकारयन्तो बन्दिन इवेत्यर्थ. । दिश (श्)दिशा शब्दद्वय । अत्रोत्प्रेक्षारूपकोदात्तानुप्रासा ॥ ६ ॥

किञ्चित्प्रेक्ष्या दरविकसितेष्वार्तवेषु प्रसूने-
ष्वन्तर्गूढाः शुशुभुरभितः पिञ्जराः केसराल्यः ।
शाखोच्चण्डेष्विव तनुभुवो वीरतूणीरकेषु
क्षिप्ता दीप्ता विशिखविसराः कान्तकल्याणपुङ्खाः ॥ ७ ॥

'अभित.' समन्तात् 'दरविकसितेपु' ईषद्विकसितेषु आर्तवेषु प्रसूनेपु 'पिञ्जरा.' पिङ्गाः केसराल्यः शुशुभुः । येषा पुष्पाणामृतुः प्राप्तो भवति तानि आर्तवानि तेपु । किंरूपाः केसराल्य· ? 'किञ्चित्' अल्पमात्र 'प्रेक्ष्या.' दृश्या. 'अन्तः' मध्ये 'गूढा.' गुप्ता । उत्प्रेक्ष्य(क्ष)-ते—'तनुभुव.' कामस्य 'वीरतूणीरकेषु' वीरनिषङ्गेषु क्षिप्ता. 'विशिखविसरा.' बाणसमूहा इव । कुसुमानि तूणीरा., केसरश्रेणी सरलधर्मत्वाद्बाणावलिः । किंरूपेषु वीरतूणीरकेषु ? शाखासु उच्चण्डा

अवलगितास्तेषु । किंविशिष्टा विशिखविसरा ? दीप्ताः । पुन कथभूताः ? कान्ताः—मनोज्ञाः कल्याणस्य—सुवर्णस्य पुङ्खा येषा ते । यथा शाखावलगितेषु तूणीरेषु मध्ये गुप्ता किञ्चित्प्रकटा सुवर्णपुङ्खा शरावलिर्भवति तथा कुसुमेषु केसरावलि· सभाव्यते । ऋतुः प्राप्तोऽमीषामिति आर्तवानि "ऋत्वादेरण्" ("ऋत्वादिभ्योऽण्") (सि० ५—४—१२५) अण्प्रत्ययः । अत्र परिकरोत्प्रेक्षाऽनुप्रासा· ॥ ७ ॥

अग्रे तीक्ष्णं क्रमपृथु ततो नीलपत्रैः परीतं
पुष्पव्रातं दधुरभिनवं केतकीनां कलापाः ।
कोशक्षिप्तं कनककपिशं पत्रपालासिपुत्री-
प्रख्यास्त्राणां समुदयमिवानङ्गराजस्य जिष्णोः ॥ ८ ॥

'केतकीना कलापाः' समूहा अभिनव पुष्पव्रात दधुः । किंरूपम् ? अग्रे मुखे तीक्ष्णम्, 'तत' तदनन्तर क्रमेण पृथु विस्तीर्ण नीलपत्रै. 'परीत' वेष्टितम् । पुन· किंरूपम् ? उत्प्रेक्ष्यते—'जिष्णो.' जयनशीलस्य अनङ्गराजस्य 'पत्रपालासिपुत्रीप्रख्यास्त्राणाम्' पत्रपालो दीर्घाशस्त्रीपटासज्ञक· असिपुत्री—शस्त्री तन्मुखशस्त्राणा समुदयमिव । किंरूपम् ? कोशे क्षिप्त—स्थापित कनकवत् कपिश-पिङ्गम् । मुखे तीक्ष्णानि क्रमेण विस्तीर्णानि नीलपत्रवेष्टितानि केतकीदलानि कामस्य पत्ररूपकोशे क्षिप्तानि मुखे तीक्ष्णानि क्रमाद्विस्तीर्णानि कनकपिञ्जराणि पत्रपालशस्त्रीमुख्यशस्त्राणीव भान्तीत्यर्थ· । अत्रोत्प्रेक्षारूपकानुप्रासाः ॥ ८ ॥

मूलौ मूले सरलशिखरिस्कन्धमाश्लिष्टवल्यो
मध्ये पुष्पस्तबकविनताः पौरकेषु व्रतत्यः ।
आमोदेनायतमधुकरश्रेणिभिः श्रीयमाणाः
प्रापुः पूर्णां सशरमदनाधिज्यधन्वप्रतिष्ठाम् ॥ ९ ॥

'पौरकेषु' बाह्यारामेषु 'व्रतत्यः' वल्ल्यः पूर्णां 'सशरमदनाधिज्य-

धन्वप्रतिष्ठा प्रापुः' शरेण बाणेन सह वर्तते इति सशरम्, अध्यारोपिता ज्या—प्रत्यञ्चा यत्र तद् अधिज्यम्, अधिज्य च तद् धन्व च अधिज्यधन्व, मदनस्य अधिज्यधन्व मदनाधिज्यधन्व, पश्चात् सशरेण कर्मधारयः, तस्य प्रतिष्ठा सशरमदनाधिज्यधन्वप्रतिष्ठा ताम्। किरूपा व्रतत्य ? 'मूलौ' शिखरे 'मूले' आदौ सरल शिखरिणः—वृक्षस्य स्कन्ध—प्रकाण्डम् 'आश्लिष्टवत्यः' आलिङ्गितवत्य., मध्ये पुष्पाणा स्तबकेन 'विनताः' नम्राः 'आमोदेन' परिमलेन 'आयतमधुकरश्रेणिभिः श्रीयमाणा.' इत्यादि स्पष्टम्। अतोऽन्ते आदौ च वृक्षस्कन्ध श्लिष्टा अन्त. पुष्पस्तबकनम्राः धनु'स्थानीया वह्य, शररूपा भ्रमरश्रेणीत्यर्थः। अत्र निदर्शनाऽनुप्रासौ ॥ ९ ॥

मूर्ध्नि श्लिष्टभ्रमरपटलैः कॢप्तशीर्षण्यरक्षाः
शाखाबाहाविधृतफलकाः कङ्कटद्वल्कवेष्टाः ।
पत्राङ्कूरैः पुलकिततमाः सारधर्मप्रकाण्डाः
कीरारावैः किलिकिलिकृतो भ्रेजिरे जर्णयोधाः ॥१०॥

'जर्णयोधाः' वृक्षभटा 'भ्रेजिरे' राजिता', अधिकारात् कामराजस्येति ज्ञेयम्। किरूपाः ? 'मूर्ध्नि' शिखरे 'श्लिष्टभ्रमरपटलैः' सबद्धभ्रमरसमूहै. कॢप्ता—रचिता शीर्षण्येन—शिरस्त्राणेन रक्षा यैस्ते, सुभटाना शीर्षे शिरस्त्राणो भवति, सबद्धानि भ्रमरपटलान्येव लोहमय शिरस्त्राणम्। पुन किरूपा. ? शाखा एव बाहास्ताभिः विधृतानि फलानि यैस्ते शाखाबाहाविधृतफलकाः, योधपक्षे शाखा इव दीर्घा बाहाः शाखाबाहास्ताभिर्विधृतानि फलकानि आवरणानि यैस्ते। कङ्कटः कवच' तद्वदाचरन् वल्कस्य वेष्टो येषु ते। पत्राण्येव अङ्कूराः पत्राङ्कूरास्तैः प्रकृष्ट पुलकिताः पुलकिततमाः। सारः स्थिरो धर्मः स्वभावो यस्य तत् सारधर्म प्रकाण्ड येषा ते, योधपक्षे सार धर्म—धनुः प्राति—पूरयतीति "आतो डोऽह्वावामः" (सि० ५–१–७६) इति डप्रत्यये सारधर्मप्राः, एवविधाः

काण्डाः–शरा येषा ते । कीराणा–शुकानाम् आरावैः–शब्दैः 'किलिकिलिकृतः' किलिकिलि कुर्वन्तीति किलिकिलिकृतः । अतो वृक्षा एव कामस्य योधा इव भान्तीत्यर्थः । कङ्कट इवाचरतीति "कर्तु· क्विप्०" (सि० ३–४–२५) क्विप्, अप्रत्यय·, कङ्कटतीति वर्तमाने (शतृप्रत्ययः) । अत्र निदर्शनारूपकश्लेषा ॥ १० ॥

मन्दं मन्दं तपति तपनस्यातपे यत्प्रतापः
प्रापत् पोषं विषमविशिखस्येति चित्रीयते न ।
चित्रं त्वेतद्भजदमलतां मण्डलं शीतरश्मे-
र्यूनामन्तःकरणशरणं रागमापूपुषद्यत् ॥ ११ ॥

यद् 'विषमविशिखस्य' कामस्य प्रताप· 'तपनस्य' सूर्यस्य आतपे तपति सति मन्द मन्द पोष प्रापन् इति न चित्रीयते–चित्र न करोति, यद् रवेरपि आतपो मन्द मन्द तपन् पोष प्राप, कामस्यापि प्रताप पोष प्राप । 'तु' पुनर् एतन् 'चित्रम्' आश्चर्यं यन् 'शीतरश्मे·' चन्द्रस्य मण्डल 'अमलताम्' निर्मलता भजत् सन् यूना 'अन्तःकरणशरणम्' चित्तस्थान राग 'आपूपुषन्' वर्धयति स्म, चन्द्रमण्डल स्वयं निर्मलत्व भजति, यूना चित्ते राग वर्धयति तच्चित्रम् । आपूपुषत् "पुषण् धारणे" आङ्पूर्वः "चुरादिभ्यो णिच्" (सि० ३–४–१७) इति । अत्र समाधि· आक्षेपो विषमोऽनुप्रासश्च, तत्र "निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया । वक्ष्यमाणोक्तविषय. स आक्षेपो द्विधा मत· ॥" (का० प्र० १०, १०६) इति । "गुणक्रियाभ्या कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये । क्रमेण च विरुद्धे यत्स एष विषमो मतः ॥" (का० प्र० १०,१२७) इति चित्रीयते नेत्यादि आक्षेप., चित्र त्वेतदित्यादि विषमः ॥११॥

इत्थं तत्र प्रभवति मधौ बर्कराबद्धचेतः-
प्रीतिः सान्तःपुरपरिजनोऽन्येद्युरुद्यानदेशम् ।

सर्वात्मर्द्ध्याधिकरुचिरगात् सिन्धुरस्कन्धमध्या-
रूढेनामा भुवनपतिना नेमिना तार्क्ष्यलक्ष्मा ॥ १२ ॥

'अन्येद्युः' अन्यदिने 'सान्तःपुरपरिजनः' अन्तःपुरपरिवार-युक्तः 'तार्क्ष्यलक्ष्मा' कृष्णो नेमिना भुवनपतिना 'अमा' सह उद्यानदेशमगात् । क्व सति? 'तत्र' उद्यानदेशे 'मधौ' वसन्ते, 'इत्थम्' अमुना पूर्वोक्तप्रकारेण 'प्रभवति' फलपुष्पलतावृक्षादि-समृद्ध्या समर्थीभवति सति, किंभूतस्तार्क्ष्यलक्ष्मा? वर्करेण—क्रीडया आबद्धा चेतसः—चित्तस्य प्रीतिर्यस्य स वर्क० । पुनः किंरूपः? 'सर्वात्मर्द्ध्या' समस्तगजरथतुरङ्गच्छत्रचामरशृङ्गारादिस्वी-यसमृद्ध्याऽधिका रुचिर्दीप्तिर्यस्य । किंविशिष्टेन नेमिना? सिन्धु-रस्य—गजस्य स्कन्धमध्यारूढेन, एतावता वसन्तेन पुष्पफलादिना सश्रीक क्रीडावन गजारूढेन श्रीनेमिना सह श्रीकृष्णः सपरिवारः क्रीडितुमगादित्यर्थः । अत्र परिकरानुप्रासस्वभावोक्तयः ॥ १२ ॥

तत्रापाचीपवनलहरीलोलमौलिप्रदेशान्
नानासालान् सरसविकसन्मञ्जरीपिञ्जराग्रान् ।
नेमेर्नव्ये वयसि वशितां वीक्ष्य चित्रस्मितास्यान्
संधुन्वानानिव परि शिरस्तौ क्षणं प्रैक्षिषाताम् ॥ १३ ॥

('तौ') श्रीनेमिकृष्णौ 'तत्र' उद्याने 'नानासालान्' विविध-वृक्षान् क्षण 'प्रैक्षिषाताम्' अपश्यताम् । किंरूपान्? 'अपाची०' अपाची दक्षिणा तस्याः पवनलहरीभिर्लोलाश्चञ्चला मौलिप्रदेशाः शिखरप्रदेशा येषा ते तान् । पुनः किंरूपान्? 'सरस०' सरसा-भिर्विकसिताभिर्मञ्जरीभिः पिञ्जरमग्र येषा तान् । अथ चञ्चल-त्वेऽपि विकसितत्वेऽपि (च) कारणान्तर सभावयन्नाह—उत्प्रे-क्ष्यते—नेमेः 'नव्ये वयसि' यौवने 'वशिता' जितेन्द्रियता वीक्ष्य 'परि' समन्तात् 'शिरः' शीर्षं संधुन्वानानिव । किंरूपान्? चित्रेण आश्चर्येण स्मित विकसित आस्य मुख येषा तान् । अन्योऽपि किमप्य-

सभाव्य दृष्ट्वा शिरो धुनाति विकसितस्मितमुख. (च) भवति, वृक्षा अपि नेमे' स्मरावेशकारणे यौवने जितेन्द्रियत्व वीक्ष्य विस्मिता इव शिरो धुन्वाना. स्मितास्याश्च जाताः । अत्र वायुचञ्चलशिखरत्वं शिरोधुननत्वेन मञ्जरीपिञ्जरत्व च स्मितास्यत्वेन सभावितम् । अत्रो-त्प्रेक्षापरिकरकाव्यलिङ्गानुप्रासा. । नेमेर्नव्येत्यादिहेतोरुपन्यासात् काव्यलिङ्गम् ॥ १३ ॥

वाता वाद्यध्वनिमजनयन् वल्गु भृङ्गा अगायं-
　　स्तालान् दध्रे परभृतगणः कीचका वंशकृत्यम् ।
वल्ल्यो लोलैः किशलयकरैर्लास्यलीलां च तेनु-
　　स्तद्भक्त्येति व्यरचयदिव प्रेक्षणं वन्यलक्ष्मीः ॥ १४ ॥

उत्प्रेक्ष्यते—'वन्यलक्ष्मी.' तयो श्रीनेमिकृष्णयो. भक्त्या इति 'प्रेक्षण' नाटक व्यरचयदिव, वने भवा वन्या, वन्या चासौ लक्ष्मीश्च वन्यलक्ष्मीः । इतीति किम् ? वाताः 'वाद्यध्वनिं' तूर्यारावं अजनयन्, भृङ्गाः 'वल्गु' मनोज्ञ यथा भवति अगायन्, 'परभृत-गण.' कोकिलसमूह' तालान् दध्रे, 'कीचकाः' सच्छिद्रवशा वश-कृत्य तेनु', 'च' अन्यत् 'वल्ल्य.' लता. 'लोलै ' चञ्चलैः किशल-यकरैः 'लास्यलीला'नृत्तलीला तेनु । अन्यदपि प्रेक्षण मृदङ्गादिवादित्र-गानतालवशनर्तकीना सयोगे भवति । वने भवा वन्या "दिगादि-देहाशाद्य." (सि० ६–३–१२४) यप्रत्ययः । अत्र वाता इत्यादि निदर्शना, वल्लीना नर्तकीत्वेनाध्यवसानादतिशयोक्तिः, किशलय-करैरिति रूपकम्, तेनुरिति क्रियाया द्वयोरुभयोरेकत्वाद्दीपकः, सकलेनार्थेनोत्प्रेक्षा, वन्यलक्ष्मीरिति समासोक्तिः । अन्यापि नायिका नायकभक्त्या नाटक रचयतीत्यर्थः । अतो निदर्शनातिश-योक्तिरूपकदीपकोत्प्रेक्षासमासोक्त्यनुप्रासरूपः सङ्करः ॥ १४ ॥

ताराचारिभ्रमरनयनत्पद्मवद्दीर्घिकास्या
　　किञ्चिद्धास्यायितसितसुमा शुङ्गिकाव्यक्तरागा ।

ताभ्यां तत्र प्रसवजरजःकुङ्कुमस्यन्दलिप्ती
नानावर्णच्छदनिवसना प्रैक्षि वानेयलक्ष्मीः ॥ १५ ॥

'तत्र' उद्याने 'ताभ्या' श्रीनेमिकृष्णाभ्या 'वानेयलक्ष्मीः प्रैक्षि' वने भवा वनस्येय वा वानेयी, वानेयी चासौ लक्ष्मीश्च वानेयलक्ष्मी., "पुवत्कर्मधारये" (सि० ३–२–५७) पुवद्भावः । किरूपा वानेयलक्ष्मीः? 'ताराचारिभ्रमरनयनत्पद्मवदीर्घिकास्या' तारावत् कनीनिकावत् चारिण· चरणशीला भ्रमरा येषु तानि, नयनानीवाचरन्ति नयनन्ति, ताराचारिभ्रमराणि तानि च नयनन्ति पद्मानि विद्यन्ते यस्या सा ताराचारिभ्रमरनयनत्पद्मवती, एवविधा दीर्घिका एव आस्य मुख यस्या· सा, अत्रापि "पुवत्कर्मधारये" (सि० ३–२–५७) इति पद्मवत्या· पद्मवदिति पुवद्भावः । दीर्घिका मुख, तस्या कमलानि लोचनानि, तेपु भ्रमरा. कनीनिका इत्यर्थः । किञ्चिद् ईपद् हास्यवदाचरितानि सितानि—श्वेतानि सुमानि—कुसुमानि यस्या सा । शुङ्गिका एव व्यक्तः स्पष्टो रागो यस्याः सा । पुन. किभूता? 'प्रसवजरज.कुङ्कुमस्यन्दलिप्ती' प्रसवेभ्य—पुष्पेभ्यो जायते तत् प्रसवजम्, रज·—किञ्जल्कः तदेव कुङ्कुमस्य स्यन्द.—रसस्तेन लिप्ती—ईषल्लिप्ता । नानावर्णानि च्छदानि—दलान्येव वसन वस्त्र यस्या सा । लिप्तीत्यत्र "क्तादल्पे" (सि० २–४–४५) इति ङी । अत्र रूपकोपमानपरिकरसमासोक्तय· । वानेयेति "नद्यादेरेयण्" (सि० ६–३–२) एयण् प्रत्ययः ॥ १५ ॥

रत्याक्षिप्तो मुररिपुरथान्दोलनादौ सदेशे
वीरे बन्धौ स्थितवति तथा काममुत्तिष्ठते स्म ।
वीरोत्तंसः स्मितमति यथा दृब्धहल्लीसकस्ताः
श्रीसूनुस्ता निजभुजबलं गापयामास गोपीः ॥ १६ ॥

'अथ' अनन्तर 'मुररिपुः' कृष्ण. 'तथा' तेन प्रकारेण 'अन्दोलनादौ' क्रीडाविषये 'काम' अत्यर्थम् 'उत्तिष्ठते स्म' उद्यतो बभू-

व । क सति ? 'वीरे बन्धौ' श्रीनेमीशे 'सदेशे' समीपे स्थितवति सति । किंरूपो मुररिपु. ? 'रत्या' रागेण आक्षिप्त., पक्षे रतिः कन्दर्पभार्या तयाऽऽक्षिप्तो वशीकृत· । 'यथा' येन प्रकारेण 'वीरोत्तस.' सुभटमुकुट· 'श्रीसूनुः' काम. ता गोपीः स्मितमति यथा भवति निजभुजबल गापयामास । किंरूपा गोपी· ? 'दृब्धहल्लीसकस्था' दृब्ध रचित हल्लीसक स्त्रीनाट्य तत्र तिष्ठन्तीति । स्मिते हास्ये मतिर्यस्य तत् स्मितमति, अयमर्थः—यत् विश्वैकवीरे श्रीनेमीश्वरे समीपस्थेऽपि मद्भार्ययाऽबलयाऽपि श्रीकृष्ण आक्षिप्तस्तत् तत्क्रीडासु प्रागल्भत, अतः कामवीरो गर्वाद् हसन् हल्लीसकस्था गोपी. स्वदोर्बल गापयामास । उत्तिष्ठते स्मेति "उदोऽनूर्ध्वेहे" (सि० ३—३—६२) इत्यात्मनेपदम् । अत्र रत्या इति, वीरे इति, वीरोत्तस इति, अद्भुतरसव्यञ्जकानि । "मण्डलेन तु यन्नृत्य स्त्रीणा हल्लीसक हि तत्" (अ० चि० का० २ श्लो० १९५) । अत्र काव्यलिङ्गपर्यायोक्तानुप्रासाः ॥ १६ ॥

प्रेमाधिक्यात्प्रतितरु हरिः पुष्पपूरप्रचायं
कृत्वा नेमिं स्वयमुपचरन् सत्यभामादिभार्याः ।
भ्रूविक्षेपं समदमनुदत्तत्र कृत्ये तदानीं
श्रेयोदृष्टिं हिमरुचिरिवानेहसं प्रेयसीः स्वाः ॥ १७ ॥

'हरिः' कृष्ण. सत्यभामादिभार्या. तदानी 'तत्र कृत्ये' उपचारकृत्ये भ्रूविक्षेपं समद यथा भवति 'अनुदत्' प्रेरयामास, भ्रूसञ्ज्ञयाऽन्तःपुर्यः प्रेरिता इत्यर्थ । कि कुर्वन् ? 'प्रेमाधिक्यात्' स्नेहाधिक्यात् 'प्रतितरु' वृक्षं वृक्ष प्रति पुष्पपूरप्रचाय कृत्वा 'स्वय' आत्मना 'नेमिम्-उपचरन्' प्रतिवृक्ष हस्तप्राप्याणि पुष्पाण्यवचित्य स्वय शिरउरःकर्णादिषु निवेशनेन नेमि सम्मानयन्नित्यर्थः । किविशिष्ट नेमिम् ? श्रेयसी—कल्याणी दृष्टिः—दृग् यस्य अथवा श्रेयसि पुण्ये शुभे वा दृष्टिर्ज्ञान यस्य। क इव ? 'हिमरुचिरिव' चन्द्र इव, यथा हिमरुचिश्चन्द्रः स्वयम् 'अनेहसं' काल उपचरन् स्वाः

प्रेयसी रोहिण्याद्याः 'तत्र कृत्ये' कालोपचारलक्षणे प्रेरयति, चन्द्रस्य हि नक्षत्रराशिसंचारेण कालस्य शुभाशुभपरिणामः, तथाहि— चन्द्रस्य नानाकारोद्गमा राशिषु शुभाशुभसूचकाः, यथा—"अलि-सिंहे धनुर्वक्र, शूलाभः कन्यकातुले । दक्षिणाभ्युन्नतो मीन–मेषे कुम्भवृषे समः ॥ १ ॥ मिथुने मकरे चोत्त–रोन्नतोऽथ हलो-पमः । धनुः कर्के रवौ श्लाघ्यो नवेन्दुरशुभोऽन्यथा ॥ २ ॥ विड्वर स्यात्समे चन्द्रे, सुभिक्षं दक्षिणोन्नते । ईतिराजभयं शूले, दुर्भिक्षं दक्षिणोन्नते ॥ ३ ॥ कृष्णे चन्द्रे भवेन्मृत्युः, पीते व्याधिसमागमः । रक्ते रसाः क्षयं यान्ति, श्वेते वृष्टिः प्रकीर्तिता ॥ ४ ॥" इत्यादि, नक्षत्रयोगा अपि धनिष्ठापञ्चकाद्याः तस्मिँस्तस्मिन्मासे दिने च शुभाशुभवृष्ट्यवृष्टिसूचकाः ख्याता वर्तन्ते । किंरूपमनेहसम्? श्रेयसो दृष्टिर्दर्शनं यस्मिन् तं श्रेयोदृष्टिं कल्याणसूचकम्, यथा चन्द्रो राशिसंचारेण शीतातपवृष्टिगर्भपरिणामात्कालमुपचरन् रोहिण्यादिनक्षत्राणि तथा प्रेरयति, कृष्णोऽपि स्वयं श्रीनेमिमुपचरन् स्वप्रिया अपि तत्र कृत्ये प्रेरयामासेत्यर्थः । पुष्पपूरप्रचाय-मित्यत्र पुष्पाणां पूरः पुष्पपूरः, हस्तप्राप्यस्य पुष्पपूरस्य प्रचयनं पुष्पपूरप्रचायः, "हस्तप्राप्ये चेरस्तेये" (सि० ५–३–७८) अनेन घञ्प्रत्ययः, हस्तप्राप्यत्वाभावे तु प्रचय एव भवति । भ्रुवौ विक्षिप्य भ्रूविक्षेपम् "स्वाङ्गेनाध्रुवेण" (सि० ५–४–७९) इति णम् प्रत्ययः । अत्रोदात्तदृष्टान्तानुप्रासाः ॥ १७ ॥

ताश्चानङ्गं पशुपतिद्रुतं गूढमार्गे शयानं
　　सख्यू राज्ये जहति पुरुहे चास्त्रजातेऽपि जाते ।
तत्राजय्ये त्रिभुवनपतावप्रभूष्णुं दृशैवो-
　　पाजेकृत्वा लघु ववलिरे जिष्णुपत्न्योऽभि नेमिम् ॥१८॥

'च' अन्यत् 'ताः' 'जिष्णुपत्न्यः' कृष्णान्तःपुर्यो नेमिमभि 'लघु' शीघ्रं ववलिरे । किं कृत्वा? 'अनङ्गं' कामं दृशैव 'उपाजेकृत्वा'

भग्न सधाय । किंरूपमनङ्गम्? पशुपतिना—ईश्वरेण दुत पीडितम्, पुन. किंरूपम्? 'गूढमार्गे' मनसि 'शयान' मनसि कृतविश्राम मनोयोनित्वात्सकलयोनित्वाच्च, अन्योऽपि य· पीडितः केनापि भवति स गूढे प्रच्छन्ने मार्गे शेते । पुन. किंरूपम्? तत्र 'अजय्ये' जेतुमशक्ये 'त्रिभुवनपतौ' श्रीनेमीशे 'अप्रभूष्णु' असमर्थम्। क्व सति? 'मख्यु.' वसन्तस्य राज्ये जयति सति । पुनः क्व सति? 'च' अन्यत् 'पुरुहे' प्रभूते 'अस्त्रजाते' शस्त्रसमूहे 'जातेऽपि' निष्पन्नेऽपि। कामस्यास्त्राणि कुसुमानि तेषु बहुष्वपि निष्पन्नेष्वित्यर्थः, तस्माद्भग्न काम दृशैव सज्जीकृत्य कृष्णान्त.पुर्यो नेमीश प्रति वलिता इत्यर्थ. । उपाजेकृत्वेति "उपाजेऽन्वाजे" (सि० ३–१–१२) इति सूत्रेण विकल्पेन गतिसञ्ज्ञा । अत्र पर्यायोक्तविशेषोक्तिविशेषश्लेषानुप्रासा. । एतावताऽर्थेन स्वामिनो निर्विकारत्व तासा च कामविवर्धकत्व ज्ञापितमिति पर्यायोक्तम् । कामस्य जयहेतुवसन्तपुष्पायुधादिकारणयोगेऽपि स्वामिन प्रति जयहेतुकार्यानुत्पत्तिरिति विशेषोक्ति·, स्वामिन प्रति वलनक्रिया कुर्वतीभिस्ताभि. कामस्य भग्नसधानमशक्य कृतमिति विशेष , "अन्यत्प्रकुर्वत कार्य–मशक्यस्यान्यवस्तुनः । तथैव करण चेति, विशेषस्त्रिविध· स्मृतः।" (का० प्र० १०, १३६) अतिशयोक्तिश्च ॥ १८ ॥

अथ ताः श्रीनेमिन नानाक्रीडाभिर्यथा क्रीडयन्तीति तदाह—

काचिच्चञ्चत्परिमलमिलल्लोलरोलम्बमालां
मालां बालारुणकिशलयैः सर्वसूनैश्च क्लृप्ताम् ।
नेमेः कण्ठे न्यधित स तया चाद्रिभिन्नापयष्ट्या
रेजे स्निग्धच्छविशितितनुः प्रावृषेण्यो यथा त्वम् ॥१९॥

'काचित्' कृष्णपत्नी नेमे. कण्ठे माला 'न्यधित' न्यस्तवती । किंरूपा मालाम्? चञ्चत्परिमलमिलल्लोलरोलम्बमाला रोलम्बा भ्रमराः। पुन. किंरूपाम्? बालारुणकिशलयैः 'च' अन्यत् सर्वसूनैः क्लृप्तां

सूनानि—कुसुमानि । 'च' अन्यत् 'स॰' भगवान् 'तया' मालया रेजे यथा 'प्रावृषेण्यः' वर्षाभव॰ त्वम् अद्रिभित्—इन्द्रः तस्य चापयष्टिः—धनुर्यष्टि॰ तया राजसे । किंरूपो भगवान् त्व च ? 'स्निग्धच्छविशितितनुः' शिति॰—श्यामा, शेष स्पष्टम् । अत्र परिकरदृष्टान्तानुप्रासाः । चञ्चत्परिमलेत्यादिविशेषणानि मालाया इन्द्रधनु.सादृश्याय पञ्चवर्णत्वख्यापकानीति परिकर ॥ १९ ॥

श्रीखण्डस्य द्रवनवलवैर्नर्मकर्माणि विन्दु-
बिन्दून्यासं वपुषि विमले पत्रवल्लीर्लिलेख ।
पौष्पापीडं व्यधित च परा वासरे तारतारा-
सार गर्भस्थितशशधरं व्योम संदर्शयन्ती ॥ २० ॥

'परा' अन्या हरिवल्लभा, नेमेरिति पूर्वकाव्यस्थमधिकारादत्र लभ्यते, नेमे विमले 'वपुषि' शरीरे पत्रवल्लीर्लिलेख । कि कृत्वा ? श्रीखण्डस्य 'द्रवनवलवैः' द्रव.—रसस्तस्य नवलवैः बिन्दून् न्यास रचयित्वा । किंभूता सा ? नर्मकर्माणि 'विन्दु॰' वेत्तीत्येवशीला । 'च' अन्यत् 'पौष्पापीड' पुष्पसबन्धि मुकुट व्यधित । कि कुर्वती ? 'वासरे' दिवसे 'तारतारासार' ताराभिः—मनोज्ञाभि. ताराभि॰—तारकाभि. सार 'गर्भस्थितशशधर' मध्यस्थितचन्द्र 'व्योम' आकाश सदर्शयन्ती, अहो जनाः ! दिवसे तारकचन्द्रसहित नभ॰ पश्यतेति । भगवद्वपु॰ श्यामवर्णं नभः, श्रीखण्डबिन्दवः ताराः, पुष्पमुकुटः चन्द्र॰ । वेत्तीति विन्दु. "विन्दिच्छू" (सि० ५-२-३४) उप्रत्यय॰, विन्दुनिपातः । अत्र निदर्शनानुप्रासौ २०

अन्या लोकोत्तर! तनुमता रागपाशेन बद्धो
मोक्षं गासे कथमिति? मितं सस्मितं भाषमाणा ।
व्यक्तं रक्तोत्पलविरचितेनैव दाम्ना कटीरे
काञ्चीव्याजात्प्रकृतिरिव तं चेतनेशं बबन्ध ॥ २१ ॥

'अन्या' काचिद् हरिप्रिया 'व्यक्त' प्रकट रक्तोत्पलविरचिते-

नैव 'दाम्ना' मालया 'काञ्चीव्याजात्' मेखलामिषात् कटीरे 'त' भगवन्त बबन्ध रक्तोत्पलमयीं मेखला तस्य कटीतटे बबन्धेत्यर्थ । किं कुर्वाणा ? इति 'मित' स्तोक 'सस्मित' सहास्य भाषमाणा । इतीति किम् ? हे लोकोत्तर ! 'तनुमता' मूर्तिमता रागपाशेन बद्धः सन् मोक्ष 'कथ गासे ?' कथ गच्छसि ?, अन्योऽपि यः पाशेन बद्धः स्यात् स कथ याति ? इति त्वमप्यनेन रागपाशेन बद्धो मोक्ष गन्तु कथ शक्ष्यसि ? इत्यन्योक्तिः । किरूप तम् ? 'चेतनेश चेतनाः—आत्मानस्तेषा ईश चेतनेशम्, केव ? 'प्रकृतिरिव' यथा प्रकृतिश्चेतनेशमात्मान बध्नाति चेतना ज्ञानकला तस्या ईशमात्मान-मिति । अत्र काव्यलिङ्गसमासोक्तिरूपकापह्नुत्युपमानानि ॥ २१ ॥

काचिद्वामा जलद! पिदधे चन्दनस्यन्दसिक्तैः
पङ्क्तिन्यस्तैः सरसकुसुमैर्दक्षमुख्यस्य वक्षः ।
कामोन्मुक्तैरिव जगदुरो विध्यमानैरखण्डैः
काण्डैर्भेत्तुं तदलमनलंभूष्णुभावाद्बहिःस्थैः ॥ २२ ॥

हे जलद ! काचित् 'वामा' स्त्री 'दक्षमुख्यस्य' श्रीनेमिनः 'वक्षः' हृदय 'पङ्क्तिन्यस्तैः' श्रेणिरचितैः सरसकुसुमै 'पिदधे' आच्छादितवती । किरूपैः सरसकुसुमैः ? चन्दनस्य स्यन्देन रसेन सिक्तैः । उत्प्रेक्ष्यते—कामोन्मुक्तैरखण्डैः 'काण्डैः' बाणैरिव । किंरूपैः काण्डैः ? 'जगदुरः' विश्वहृदय विध्यमानैः । पुनः किंरूपैः ? 'तत्' श्रीनेमिहृदय भेत्तुमलमत्यर्थम् 'अनलंभूष्णुभावात्' असमर्थत्वात् 'बहिःस्थै' बहिःस्थितैः । एतानि कुसुमानि कामस्य बाणा जगतो हृदय विध्यन्तोऽपि भगवतो हृदय भेत्तु न शक्नुवन्तीति बहिः स्थिताः । पिदधे इत्यत्र "वाऽवाप्योस्तनिक्रीधाञ्नहोर्वपी" (सि० ३—२—१५६) अनेनापेरकारलोपः । विध्यमानै-रित्यत्र 'व्यधच्' ताडने विध्यन्तीत्येवशक्तयो विध्यमानाः, "वयः शक्तिशीले" (सि० ५—२—२४) इति शानप्रत्ययः, आन, "दि-

वादेः श्यः" (सि० ३-४-७२) श्यप्रत्यय·, "ज्यान्यध· क्ङिति" (सि० ४-१-८१) य्वृत्, "अतो म आने" (सि० ४-४-११४) मोऽन्त इति । अत्रोत्प्रेक्षाऽनुप्रासौ ॥ २२ ॥

पौष्पापीडः शितिशतदलैः क्लृप्तकर्णावतंसः
कण्ठन्यञ्चद्विचकिललुलन्मालभारी सलीलम् ।
तत्केयूरो बकुलवलयः पद्मिनीतन्तुवेदी
रेजे मूर्त्तात्प्रति मम पतिः पुष्पितात्पारिजातात् ॥२३॥

हे मेघ ! मम पतिर्मूर्त्तात् 'पुष्पितात् पारिजातात् प्रति रेजे' पुष्पितस्य पारिजातस्य कल्पवृक्षस्य सदृशो राजते स्मेत्यर्थः । किंरूप. पति ? 'पौष्पापीड·' पुष्पसबन्धी आपीडो मुकुटो यस्य स· । (तथा) 'शितिशतदलैः' शितीनि श्यामानि शतदलानि कमलानि तैः क्लृप्तो रचित कर्णावतसः कर्णाभरण यस्य, सलील यथा भवति 'कण्ठन्यञ्चद्विचकिललुलन्मालभारी' कण्ठे न्यञ्चन्तीं नम्रीभवन्तीं विचकिलो मल्लिका तस्या (स्य) लुलन्तीं लुठन्तीं माला बिभ्रती (भर्ता) त्येवशील , "अजातेः शीले" (सि० ५-१-१५४) णिन्, "मालेषीकेष्टकस्यान्तेऽपि भारितूलिचिते" (सि० २-४-१०२) इति मालाया ह्रस्वः । पुनः किंरूपः ? 'तत्केयूरः' तस्य विचकिलस्य सबन्धिनी केयूरे यस्य, (तथा) बकुलः केसरः तत्सबन्धीनि वलयानि यस्य, (तथा) पद्मिनीतन्तुसत्का वेदीः मुद्रिका यस्य सः । एव सर्वाङ्गेषु सर्वाभरणस्थानेषु पुष्पजातिविभूषितत्वान्मूर्त्तः पुष्पितः पारिजात इव भगवान् रराजेत्यर्थः । पारिजातादित्यत्र "यतः प्रतिनिधिप्रतिदाने प्रतिना" (सि० २-२-७२) इत्यनेन प्रतिनिध्यर्थे प्रतिना योगे पञ्चमी, प्रतिनिधिर्मुख्यसदृशोऽर्थस्तदर्थे । अत्र निदर्शनापरिकरानुप्रासाः ॥ २३ ॥

धन्या मन्ये जलधर ! हरेरेव भार्याः स याभि-
र्दृष्टो दृग्भिः परिजनमनश्छन्दवृत्त्यापि खेलन् ।

कस्माज्जज्ञे पुनरियमहं मन्दभाग्या स्त्रिचेली
या तस्यैवं स्मरणमपि हा ! मूर्छनात्या लभे न ॥ २४ ॥

हे जलधर ! अहं 'हरेरेव' कृष्णस्यैव भार्या धन्या मन्ये, याभिः 'सः' भगवान् 'परिजनमनश्छन्दवृत्त्याऽपि' परिवारमनोऽभिप्रायेणापि 'खेलन्' क्रीडन् 'दृग्भिः' लोचनैः दृष्टः । यतः स्वामी ज्ञानत्रयसमन्वितः परब्रह्मास्वादसादरो गार्हस्थोऽपि क्रीडायाम-(गृहस्थोऽपि क्रीडाम) निच्छुरेव, परं परिवारप्रीत्यै क्रीडादिकं करोतीति । पुनरियमहं 'कस्माज्जज्ञे' कुतो हेतोर्जाता ? इयमित्यनेन मानसप्रत्यक्षेणात्मानं पुरः पश्यन्तीव परेभ्यो हीनत्वेन पृथक् करोति । किंरूपाऽहम् ? मन्दभाग्या । पुन. किंरूपा ? 'स्त्रिचेली' निन्द्या स्त्री स्त्रिचेली । 'हा' इति खेदे । 'या' अहं 'एवं' अमुना प्रकारेण 'तस्य' भगवतः स्मरणमपि मूर्छनात्या न लभे यावत्स्मरणं करोमि तावन्मूर्छा समायातीत्यर्थः । स्त्रिचेलीति निन्द्या स्त्री स्त्रिचेली निन्द्या(न्दा)वाची चेलट्–शब्दपुरः, टानुबन्धित्वात् "अणञेये०" (सि० २–४–२०) इति ङी, "नवैकस्वराणाम्" (सि० ३–२–६६) इति ह्रस्वः । अत्र निदर्शनाऽऽक्षेपभाविकानुप्रासपर्यायोक्ताद्या., तत्र निदर्शनालक्षणे अत्र प्रस्तुतप्रशंसा, धन्या मन्ये इति कस्मादिति (आक्षेपः) "निषेधो वक्तुमिष्टस्य, यो विशेषाभिधित्सया । वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ॥" (का० प्र० १०–१०६) इति । तदाऽमूर्छिताऽपि यदहं स्मरणं कुर्वती मूर्छां प्राप्स्याम्येवेति भाविकम्, सर्वेणार्थेन विरहस्यैवाधिक्यज्ञापनात् पर्यायोक्तम् ॥ २४ ॥

जल्पन्त्येवं पुनरपि नवीभूतशोकाब्धिमग्ना
तूष्णींभावं स्वतनुममुचत् साऽऽस्नन्दीमुखीव ।
तत्रं तावत् किमिति निगदन्नन्दनाम्भश्छटाभिः
सेचं सेचं स्वरुमिव गुरुर्वाग्भिराबूबुधत्ताम् ॥ २५ ॥

'सा' राजीमती एव जल्पन्ती सती पुनरपि 'स्वतनुममुचत्' मूर्छया निजदेह त्यक्तवती । कि कृत्वा ? 'तूष्णीभाव' मौनवती भूत्वा । किभूता ? 'नवीभूतशोकाब्धिमग्ना' पूर्व स्वामिनो वसन्त-क्रीडादिवर्णनरसात् शोकाब्धिः शुष्कप्राय आसीत्, तदा भगवतः स्मरणबाहुल्यजागरितसस्कारेण अनवो नवो भूतो नवीभूतः च्वि-प्रत्यय इत्यादि । उत्प्रेक्ष्यते—'आप्तनन्दीमुखीव' प्राप्तनिद्रेव । तावत् 'तत्र' परिकरः ताम् 'आबूबुधत्' सचेतनामकरोत् । किं कुर्वत् ? 'किमिति' आकुलत्वेन कि जात कि जातमिति वाच्ये कि किमिति निगदत् । किं कृत्वा ? 'चन्दनाम्भश्छटाभिः' चन्दनजलधाराभिः 'सेच सेच' सिक्त्वा सिक्त्वा । क इव ? 'गुरुरिव' यथा गुरुः 'स्वरु' निषिद्धैकरुचि वाग्भिः बोधयति सदाचारे प्रवर्तयति । एतेन राजीमती वृत्तान्त कथयन्ती पुनरपि पूर्वदुःखजागरणेन शोकाक्रान्ता मूर्छिता पुनश्चन्दनच्छटासेकात् सखीभि. सचेतना कृता । तूष्णींभवन पूर्वं "तूष्णीमा" (सि० ५–४–८७) इति णम् प्रत्ययः । सेच सेचमिति सेचन सेचनं पूर्व "रुण चाऽऽभीक्ष्ण्ये" (सि० ५–४–४८) इति रुणम् प्रत्ययः अम् इति । अत्र जात्युपमानुप्रासा. । मूर्छादिचेष्टावर्णनाज्जातिः ॥ २५ ॥

अर्धोक्तायाः स्वचरिततते: स्वप्नवत्साऽथ सद्यः
संजानत्यप्यनवहितधीर्व्युष्टसुप्तोत्थितेव ।
संपश्यन्ती विरहविवशा शून्यमाशाः कदाशा-
पाशामुक्ता मुदिरमुदितं पर्यभाषिष्ट भूयः ॥ २६ ॥

'अथ' अनन्तर 'सा' राजीमती 'भूयः' पुनरपि उदित 'मुदिर' मेघ परि अभाषिष्ट । किरूपा ? 'स्वचरिततते:' स्वावदातपङ्क्तेः 'अर्धोक्तायाः.' अर्धजल्पितायाः. स्वप्नवत् 'सजानत्यपि' स्मरन्त्यपि, 'अनवहितधीः' अनवहिता—असावधाना धीर्यस्याः सा । उत्प्रे-क्ष्यते—'व्युष्टसुप्तोत्थितेव' व्युष्टे प्रभाते सुप्ता चासौ उत्थिता च

सुप्तोत्थिता, यथा रात्रिजागरणात् प्रभाते सुप्तोत्थिताऽसावधाना स्यात् असपूर्णनिद्रत्वात् । किं कुर्वती ? शून्य यथा भवति 'आशाः' दिशः सपश्यन्ती । किरूपा ? 'विरहविवशा' विरहविह्वला । पुनः किरूपा ? कदाशा कुत्सिताऽऽशा वाञ्छा सैव पाशस्तेन आमुक्ता बद्धा । स्वचरितततेरित्यत्र "स्मृत्यर्थदयेशः" (सि० २–२–११) इति षष्ठी । कदाशेति कुत्सिता आशा कदाशा "को॰ कत्तत्पुरुषे" (सि० ३–२–१३०) इति कदादेशः । सुदिरमित्यत्र 'भागिनि च प्रतिपर्यनुभि.' (सि० २–२–३७) इति द्वितीया । अत्रोपमानुप्रासजातिसङ्करः॰ ॥ २६ ॥

हंहो ! मोहस्खलितवचनां मेघ ! मा मामुपेक्षा-
पात्रं कार्षीर्न हि यदधरेवास्म्यनभ्याशमित्या ।
दुःस्थावस्थां विधिविलसितैः प्रापिता या विशेषात्
श्रोतव्याऽसौ तव मम कथा विश्वविश्वोपकर्तुः ॥ २७ ॥

हहो मेघ ! त्वं मा उपेक्षापात्र मा कार्षीः । किंरूपा माम् ? 'मोहस्खलितवचना' मोहेन मूर्छया स्खलित वचन यस्या॰ सा ताम्, इय जल्पन्ती स्खलिताऽतोऽस्या वचनं किं श्रूयते ? इत्यह नोपेक्षणीया । यद् अह 'अधरेव' हीनवादिनीव 'अनभ्या-शमित्या नास्मि' अभ्याश समीपम्, न अभ्याश अनभ्याशम्, 'इणक् गतौ' ईयते गम्यते इति इत्य, "दृवृगस्तुजुषेतिशास" (सि० ५–१–४०) क्यप्रत्ययः, "ह्रस्वस्य तः पित्कृति" (सि० ४–४–११३) तोऽन्तः, ततोऽनभ्याश दूर इत्य गन्तव्यमस्याः साऽनभ्याशमित्या, "लोकम्पृणमध्यन्दिनानभ्याशमित्यम्" (सि० ३–२–११३) इति सूत्रेण मोऽन्तो निपातश्च, ततोऽयमर्थः— यस्माद्दूरे गम्यते यस्य समीपे न स्थीयते सोऽनभ्याशमित्यः, अह त्वेवंविधा नास्मि, केव ? 'अधरेव' यथाऽधरा हीनवादिनी स्त्री एवंविधा स्यात्तथाऽहमेवविधा नास्मि, मूर्च्छया स्खलिता,

परमप्रेतन भूयो वक्ष्ये । असौ मम कथा तव विशेषतः श्रोतव्या । किंरूपाया मम ? विधिविलसितैर्दुःस्थावस्था प्रापितायाः । किंविशिष्टस्य तव ? विश्वविश्वोपकर्तुः यः सकलजगत्परोपकारी स्यात्स दुःस्थवार्ता विशेषात् शृणोति। "कृत्यस्य वा" (सि० २–२–८८) अनेन सूत्रेण तवेति षष्ठी । अत्रोपमानुप्रासकाव्यलिङ्गाः ॥ २७ ॥

वासन्तीं तां श्रियमुपवने साधु निर्विश्य कान्तां
लोकम्प्रीणानणुगुणभृदप्यर्दितस्तस्य सख्या ।
क्लृप्ताकल्पस्तदिषुभिरुदाच्छिद्य रोषादिवात्तै-
र्विष्वक्सेनो न्यविशत पुरीं द्वारकां नेमिदृष्टिः ॥ २८ ॥

'विष्वक्सेनः' कृष्णो द्वारकां पुरीं 'न्यविशत' प्रविवेश । किं कृत्वा? 'उपवने' क्रीडावने तां 'वासन्तीं' वसन्तसत्कां 'कान्तां' मनोज्ञां श्रियं साधु यथा भवति 'निर्विश्य' भुक्त्वा, 'श्रियं' लक्ष्मीं 'कान्तां' प्रियां 'निर्विश्य' भुक्त्वा इत्यर्थान्तरं वाक्यम् । किंविशिष्टः ? 'तस्य' वसन्तस्य 'सख्या' कामेन अर्दितः । कदाचिन्निर्गुणो भविष्यतीत्याह—लोकम्प्रीणा लोकप्रीतिकारका अनणवो गुरवो ये गुणास्तान् बिभर्तीति । पुनः किंरूपः ? 'तदिषुभिः' तस्य कामस्य इषुभिः बाणैः कुसुमैः 'क्लृप्ताकल्पः' क्लृप्तो रचित आकल्पः शृङ्गारो येन सः । किंरूपैस्तदिषुभिः ? उत्प्रेक्ष्यते—रोषात् 'उदाच्छिद्य' उद्दाल्य 'आत्तैः' गृहीतैरिव । यत्कामेनाहं पीडितोऽतस्तेन कोपेन कुसुमरूपास्तद्बाणा उद्दाल्य गृहीताः । पुनः किंरूपो विष्वक्सेनः ? 'नेमिदृष्टिः' नेमौ श्रीनेमिनाथे दृष्टिर्यस्य सः । पक्षे नेमिश्चक्रधारा, अन्यस्यापि यस्य वैरिणा सह वैरं स्यात् तस्य दृष्टिः शस्त्रे भवतीति व्यङ्ग्यम् । इषुशब्दस्त्रिषु लिङ्गेषु वर्तते **स्वतस्त्रिलिङ्गे** "पष्टिरेण्विषु" (हैमलिङ्गानुशासन ६ श्लो०) इति भणनात् । न्यविशतेति "निविशः" (सि० ३–३–२४) इत्यात्मनेपदमिति । श्लेषसमासोक्त्युत्प्रेक्षालङ्काराः ॥ २८ ॥

सख्युर्दोषात्कुसुमधनुषः शान्तशत्रोरनिष्टे
तस्येशस्य स्वयमपसृते पुष्पकाले ह्रियेव ।
आगास्तेव स्वफलमुपदीकर्तुमात्मोपशाय-
स्थायी भृत्यः समयगतिवित् सप्रतापस्तपोऽपि ॥ २९ ॥

'तपोऽपि' उष्णकालोऽपि स्वफल उपदीकर्तुम् 'आगास्त' आगच्छत् । स्वफलमिति जातावेकवचनम् । किंरूपस्तप. ? उत्प्रेक्ष्यते— 'आत्मोपशायस्थायी भृत्य इव' आत्मन उपशाये वारके तिष्ठतीत्येवशील' । राज्ञो हि भृत्या निजनिजवारके सेवार्थमागच्छन्ति । क सति ? 'पुष्पकाले' वसन्त ऋतौ 'स्वयम्' आत्मना 'अपसृते' गते सति । कथ स्वय वसन्तो गत' ? अत्राह, उत्प्रेक्ष्यते—'ह्रिया' लज्जया इव । का लज्जा ? इति विशेषणद्वारेण कारणमाह—किंविशिष्टे पुष्पकाले ? कुसुमधनुषः 'सख्युः' मित्रस्य दोषात् 'तस्येशस्य' श्रीनेमिनः 'अरिष्टे' अप्रिये, कामस्य को दोषः ? इत्याह—किंरूपस्य कामस्य ? 'शान्तशत्रोः' शान्ताना निर्विकाराणा शत्रु' वैरी, अथवा शान्ता निर्विकारा एव शत्रवो यस्येति दोषः । भगवान् शान्तः, कामस्तु शान्तशत्रुः, अतस्तेन कामेन मैत्र्याद्वसन्तोऽपि सापराधः, वैरिगृह्यत्वात् । भगवतो वा विशेषणम् । किंविशिष्टस्येशस्य? 'शान्तशत्रोः' शान्ता. शत्रवो यस्य । किंरूपस्तप. ? 'समयगतिवित्' समयः ऋतुरूपः कालस्तस्य गति गमन विन्दति लभते वेत्ति वा समयगतिवित् । पक्षे समयो राजसेवाऽवसरः तस्मिन् गतिं गमन वेत्तीति समयगतिवित् । पुनः किंरूप. ? 'सप्रतापः' प्रकृष्टः ताप औष्ण्य तेन सह वर्तते, पक्षे प्रतापवान् । आगास्तेति 'गाङ् गतौ' इति धातो रूपम् । आत्मोपशायेति 'शीङ्क् स्वप्ने' शी उपपूर्वः, उपशयनमुपशायः "व्युपाच्छीङः" (सि० ५—३—७७) घञ् प्रत्यय इत्यादि । "विशाय उपशायश्च पर्यायोऽनुक्रमः क्रमः" । (का ६—१३९) इति (हैम) **नाममालायाम्** । काव्यलिङ्गोत्प्रेक्षाद्वयश्लेषजात्यलङ्काराः ॥ २९ ॥

तेजोवीर्यं पुरु रुचिपतेरुत्तरामेव काष्ठां
श्रेयःपुष्टां परि विचरतः प्राप्तमैधिष्ट शश्वत् ।
तापोत्तप्तानपि तनुमतः प्रीणयन्ती तुषारै-
र्वातैर्ज्यानिं प्रतिदिनमगाद्यामिनी तत्तु चित्रम् ॥ ३० ॥

'रुचिपते' सूर्यस्य 'पुरु' प्रभूत 'शश्वत्' निरन्तर 'तेजोवीर्यं' तेजोबलम् 'ऐधिष्ट' अवर्धिष्ट । किंकुर्वतः ? उत्तरामेव 'काष्ठां' दिश 'परि विचरतः' उदीचीं दिश प्रति चलतः । तत् 'प्राप्त' युक्तम्, यत् अन्योऽपि उत्तरा उत्कृष्टा काष्ठा क्रिया परि विचरति तस्य तेजोवीर्यं वर्धते । किंरूपा काष्ठाम् ? 'श्रेयःपुष्टा' श्रेयसा कल्याणेन पुष्टाम्, उत्तरा हि श्रेयःकारिणी । पक्षे श्रेयसा पुण्येन पुष्टाम् । 'तु' पुनः तत् 'चित्रम्' आश्चर्य यत् प्रतिदिन 'यामिनी' रात्रिः 'ज्यानिं' हानि अगात्, किं कुर्वती ? तापोत्तप्तान् 'तनुमतः' प्राणिनः 'तुषारैः' शीतलैः वातैः प्रीणयन्त्यपि । दिने हि ग्रीष्मे घर्मणा प्राणिनस्तप्ता भवन्ति, निशाया शीतलवातेन प्रीयन्ते, ततो रात्रि-स्तापतप्तप्राणिप्रीणन पुण्य कुर्वाणा यद् अहीयत तदाश्चर्यम्, पुण्य॰ कर्तुर्वृद्धिभावात् । अत्र समविषमसमासोक्तिश्लेषानुप्रासाः । "सम योग्यतया योगो यदि सभावितः क्वचित् ।" (का०प्र०१०,१२५) पूर्वार्धे, उत्तरार्धे—"क्वचिद् यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात् । कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत् ॥ गुणक्रियाभ्या कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये । क्रमेण च विरुद्धे यत् स एष विषमो मतः॥" (का० प्र० १०, १२६–१२७) इति ॥ ३० ॥

वृद्धिं भेजे दिवसमनिशं स्वप्रतापेन सत्रा
शीतत्वेनापि च तलिनतां वासतेयी विवेश ।
नैतन्नोद्यं विमलरुचयः प्रायशो हि श्रयन्ति
क्षीयन्ते चाभ्यधिगततमःस्तोमभावाः स्वभावात् ॥ ३१ ॥

'अनिश' निरन्तर दिवस स्वप्रतापेन 'सत्रा' साकं वृद्धिं भेजे ।

अपि च 'वासतेयी' रात्रिः शीतत्वेन सत्रा 'तलिनता' तुच्छता विवेश । दिवसस्तापश्च वृद्धौ, शीतत्व रात्रिश्च तुच्छे जाते इत्यर्थः' एतत्सिद्ध्यै अर्थान्तर न्यस्यति—एतत् 'न नोद्य' नाश्चर्यम्, 'हि' यस्मात् 'प्रायश.' प्रायो विमलरुचयः 'श्रयन्ति' वर्धन्ते, विमला निर्मला परद्रोहादिवर्जिता रुचि' इच्छा येषा ते विमलरुचय', दिवसमपि विमलरुचि विमलकान्ति, अतस्तस्य वृद्धिर्युक्ता । 'च' अन्यत् 'अभ्यधिगततमःस्तोमभावा. स्वभावात् क्षीयन्ते' अभ्यधिगत' प्राप्तः तम.स्तोमः पापसमूहो येन एवविधो भाव चित्ताभिप्रायो येषां ते अभ्यधिगततमःस्तोमभावा, रात्रिरपि अभ्यधिगतः तम.स्तोमस्य अन्धकारसमूहस्य भाव' सत्ता यया सा अभ्यधिगततमःस्तोमभावा, अतस्तस्या हानिर्युक्ता । दिवसशब्दः पुनपुसक' । स्वप्रतापेनेति सहार्थे तृतीया । अत्र सहोक्त्यर्थान्तरन्यासजात्यलङ्काराः ॥ ३१ ॥

श्रोतस्विन्याः सिकतिलतटेनाग्निमिन्धेन भानो-
र्भासां स्पर्शादपि पथि चरद्देहिनो देहिरे धिक् ।
यद्वाऽऽसक्तः प्रकृतिकुटिलास्वाचरेन्निम्नगासु
प्रायोऽश्रेयो मृदुरपि न कः स्वल्पमप्यूष्मयोगे ॥ ३२ ॥

'श्रोतस्विन्याः' नद्या' 'सिकतिलतटेन' वालुकाकुलपुलिनेन 'पथि चरद्देहिन.' पथि मार्गे चरन्तो देहिनः प्राणिनो धिक् देहिरे दग्धाः । किंविशिष्टेन सिकतिलतटेन ? 'भानो.' सूर्यस्य 'भासा' कान्तीना स्पर्शादपि 'अग्निमिन्धेन' अग्निवत् ज्वलता सूर्यकरात्युष्णवालुकाभूततटे सञ्चरन्तः पान्थाद्या दग्धा इत्यर्थः । अत्रार्थान्तरन्यासमाह—'यद्वा' अथवा 'प्रकृतिकुटिलासु' प्रकृतिवक्रासु 'निम्नगासु' स्त्रीषु आसक्तः क. पुमान् 'मृदुरपि' सुकुमालोऽपि 'स्वल्पमपि' स्तोकमपि 'ऊष्मणः' प्रतापस्य योगे सति प्राय 'अश्रेयः' अशुभं नाचरेत् ? अपि तु सर्वोऽप्याचरेत् । ततो मृदु कोमल तटमपि निम्नगासु

स्त्रीषु सक्तं ऊष्मयोगे तापयोगे सति यद्देहिदहनलक्षणमशुभमाचरति तत्किं चित्रम्? । सिकता विद्यन्ते यत्र तत् सिकतिलम्, प्रज्ञादेरिलः इलप्रत्ययः । अग्निवत् इन्द्धे–दीप्यते इत्यग्निमिन्धम्, पचाद्यच्, "भ्राष्ट्राग्नेरिन्द्धे" (सि० ३–२–११४) इति मोऽन्तः । अत्रोदात्तश्लेषार्थान्तरन्यासाः । ऊष्मण आधिक्यदर्शनादुदात्तम् ॥ ३२ ॥

लब्ध्वा तेजः खरतरकरैर्गोपतिः पीडयित्वा
तोयस्थानान्यतिघनरसानाददानः प्रतापी ।
निन्ये हानिं स्वजननलिनास्थानरूपाणि लोके
प्राप्तैश्वर्यं रमयति यतो गृद्धिबुद्धिर्विशेषात् ॥ ३३ ॥

'गोपतिः' सूर्य तेजो लब्ध्वा 'स्वजननलिनास्थानरूपाणि तोयस्थानानि हानिं निन्ये' स्वजनानि स्वगोत्राणि, कमलबन्धुत्वात्सूर्यस्य, यानि नलिनानि कमलानि तेषामास्थानरूपाणि निवासरूपाणि तोयस्थानानि जलस्थानानि हानिं निन्ये, शोषितानीत्यर्थः । किं कुर्वाणः? 'खरतरकरैः' कठोरतरकिरणैः अत्यर्थं 'घनरसान्' जलानि 'आददानः' गृह्णानः । अन्योऽपि गोपती राजा तेजसा वर्धमानः कठोरदण्डैः पूर्वमन्यान् पीडयित्वा 'अतिघनरसान्' अतिघनान् रसान् धनानि गृह्णन् स्वजनगृहाण्यपि हानिं नयति । "रसः स्वादे जलेवीर्ये रत्ने वृद्धयौषधे वने" इति रसशब्देन वनम् । 'यतः' यस्मात्कारणात् 'गृद्धिबुद्धिः' लोभबुद्धिः प्राप्तैश्वर्यं पुरुष विशेषात् 'रमयति' स्वायत्त करोति, ऐश्वर्ये हि विशेषाल्लोभो वर्धते । श्लेषसमासोक्तिकाव्यलिङ्गार्थान्तरन्यासाः ॥ ३३ ॥

तापव्यापाकुलितजनतापश्चशाखे तुषारान्
संवर्षद्भिः पवनलुलितैस्तालवृन्तैर्विरेजे ।
धर्तुः शैत्योन्नततरुमिदे वर्ष्मलक्षाणि धर्म-
व्यालस्येव स्रुतमदकणैः कर्णतालैर्विलोलैः ॥ ३४ ॥

'तापव्यापाकुलितजनतापश्चशाखे' तापार्तलोकहस्ते 'तालवृन्तैः'

व्यजनैः 'विरेजे' शुशुभे। किंरूपैस्तालवृन्तैः ? 'तुषारान्' जलकणान् सवर्षद्भिः 'पवनलुलितैः' वायुकम्पितैः । पुनः किंरूपैः ? उत्प्रेक्ष्यते—'घर्मव्यालस्य' घर्मदुष्टगजस्य 'विलोलैः' चञ्चलैः 'कर्णतालैः' कर्णाञ्चलैरिव । किंरूपस्य घर्मव्यालस्य ? शैत्योन्नततरुभिदे 'वर्ष्मलक्षाणि' शरीरलक्षाणि 'धर्तुः' दधतः, शैत्यमेव उन्नतस्तरुस्तस्य भिदे भिदायै । किंरूपैः कर्णतालैः ? 'स्रुतमदकणैः' स्रुताः क्षरिता मदकणा यैस्ते तैः, अतो जलकणवर्षिणो वायुकम्पितास्तालवृन्ता एवोत्प्रेक्ष्यन्ते शैत्यतरुभिदे कृतबहुरूपस्य घर्मदुष्टगजस्य मदकणवर्षिणश्चञ्चलाः कर्णताला इव । अत्र परिकररूपकोत्प्रेक्षानुप्रासाः ॥३४॥

संतापाढ्यः प्रखरकरभीर्जातदोषोदयेच्छ-
स्तृष्णापात्रं जडकृतरतिर्दीर्घनिद्राभिलाषी ।
राजन्वत्यप्यवनिवलयेऽदभ्रदाहे निदाघे-
ऽबोभूयिष्टानलसविलसद्धर्मशर्माऽपि लोकः ॥ ३५ ॥

अदभ्रदाहे' महादाहे 'निदाघे' ग्रीष्मे लोक एवंविधोऽबोभूयिष्ट ईदृशोऽत्यन्तमभूत् । किंरूपो लोकः ? 'अनलसविलसद्धर्मशर्मा' अनलस सोद्यम विलसन् धर्मः पुण्य शर्म सुख च यस्य सः धर्मशर्मसहितोऽपि (इति यावत्) । क सति ? 'अवनिवलये' पृथ्वीवलये 'राजन्वत्यपि' शोभनो राजा यस्मिन्नसौ राजन्वान् तस्मिन् । किंरूपो लोकः ? सन्तापेन उद्वेगेन आढ्यः । यो लोकोऽनलसविलसद्धर्मशर्मा भवति स सन्तापाढ्यः कथम् ? इति विरोधः, अथ विरोधपरिहारमाह—स सामस्त्येन तापेन आढ्यः । 'प्रखरकरभीः' प्रखरात् अतिकठोरात् करात् दण्डात् बिभेतीति प्रखरकरभीः, पक्षेऽतिकठोरेभ्यः करेभ्यो रविकिरणेभ्यो बिभेतीति । जाता दोषाणा द्रोहमदमात्सर्याणा उदये इच्छा यस्य सः, पक्षे जाता दोषोदये रात्र्युदये इच्छा यस्य सः । तृष्णायाः लोभस्य पात्रम्, पक्षे तृष्णायाः पिपासायाः पात्रम् । तथा जडेषु मूर्खेषु

कृता रतिर्येन स , पक्षे जले कृता रतिर्येन स. । दीर्घनिद्रा मरण अभिलषतीति, पक्षे दीर्घा बह्वीं निद्रामभिलषतीति, ग्रीष्मे हि निद्राप्राचुर्यं स्यात् । शोभनो राजा यस्मिन् स राजन्वान् "राजन्वान् सुराज्ञि" (सि० २–१–९८) इति निपातः । अबोभूयिष्टेति चेक्रीयतान्तस्य भूधातोरद्यतनीतप्रत्यये रूपम् । अत्र परिकरविरोधश्लेषाः ॥ ३५ ॥

ऊष्मोत्कर्षान्न सुखमपुषत् सौधमाध्यन्दिनोर्वी
लूकास्तोकोदयदरतितः सौधमूर्धाधिवासः ।
दूरीकृत्य द्वयमिति जले केलिकामः सनेमिः
शौरिर्लीलोपवनमसरत्तूरसंहूतपौरः ॥ ३६ ॥

'शौरिः' विष्णु. 'लीलोपवन' क्रीडावन असरत् । किंरूपः शौरिः ? 'सनेमिः' नेमिसहित. । पुन. किंरूप ? 'तूरसहूतपौर.' तूरैः वाद्यैः सहूताः पौरा नागरा येन स । अतो वाद्यरव श्रुत्वा लोका अपि तत्र गता. । पुन. किंविशिष्ट. शौरिः ? इति द्वय सौधमध्यगृहोर्ध्ववासलक्षण 'दूरीकृत्य' परिहृत्य जले 'केलिकामः' केलौ कामोऽभिलाषो यस्य सः । इतीति किम् ? 'सौधमध्यन्दिनोर्वी' आवासमध्यभूमिः 'ऊष्मोत्कर्षान्' घर्मप्राचुर्यात् सुख न अपुषत् , 'सौधमूर्धाधिवासः' सौधोपरितनभूमिः 'लूकास्तोकोदयदरतितः सुख नापुषत्' लूकातोऽस्तोका बह्वी उदयन्ती उत्पद्यमाना अरतिः तस्याः सकाशात् । सौधमध्ये तापव्यापः, सौधोपरि लूकाक्लेश. इति द्वय परिहृत्य जले क्रीडितु श्रीकृष्णः श्रीनेमिना सह सपौरलोक. क्रीडावनमगादित्यर्थ. । अपुषदित्यत्र "लृदिद्द्युतादि पुष्यादेः" (सि० ३–४–६४) इति अङ् । सौधमाध्यन्दिनोर्वी मध्ये भवा माध्यन्दिनी "मध्याद्दिनण्णेया मोऽन्तश्च" (सि० ६–३–१२६) दिनण्प्रत्ययः, वृद्धि., ङी, माध्यन्दिनी चासौ उर्वी च माध्यन्दिनोर्वी, "पुंवत्कर्मधारये" (सि० ३–२–५७) पुंवद्भावः । अत्र काव्यलिङ्गपर्यायोक्तसहोक्त्यलङ्काराः ॥ ३६ ॥

ज्येष्ठं कृत्वा पुर इव भुजन्नम्रसालै रसालैः
　　सालैर्ग्रीष्मः प्रमदवनभूमध्यदेशप्रवेशे ।
पुञ्जीभूता भुवि विगलनाद्भारतार्धत्रिलोकी-
　　लीलापत्योः स्वफलपटलीः प्राभृतेऽचीकरच्च ॥ ३७ ॥

'ग्रीष्मः' उष्णर्तुः भारतार्धत्रिलोकीलीलापत्योः प्रमदवनभूमध्यदेशप्रवेशे रसालैः 'सालैः' सहकारवृक्षैः स्वफलपटलीः 'प्राभृते' उपदायां अचीकरत्, 'चः' अवधारणे, रसालसालाः स्वफलपटलीः प्राभृते कुर्वन्ति तान् कुर्वतो ग्रीष्मः प्रायुङ्क्त । भारतार्धलीलापतिः श्रीकृष्ण., त्रिलोकीलीलापतिः श्रीनेमिः तयो· । यत्र राज्ञोऽन्तःपुर्यः क्रीडन्ति तत प्रमदवन तस्य भुवो मध्यप्रदेशस्तत्र प्रवेशे । किंविशिष्टै रसालैः ? भुजा इवाचरन्तो नम्रा· साला. शाखा येषा ते तैः । कि कृत्वा ? 'ज्येष्ठ' ज्येष्ठमास 'पुर इव' अग्रे इव कृत्वा, ज्येष्ठाषाढमासौ हि ग्रीष्मः । किंभूताः स्वफलपटलीः ? 'भुवि' पृथिव्या विगलनात् 'पुञ्जीभूताः' राशीभूताः । अन्यस्यापि राज्ञः प्रवेशे ज्येष्ठ वृद्ध पुरस्कृत्य फलादीन्युपदीक्रियन्ते । भुजा इवाचरन्तीति "कर्तु क्विप्" (सि० ३–४–२५) क्विप्प्रत्ययः, "अप्रयोगीत्" (सि० १–१–३७) भुजन्तीति वर्तमाने "शत्रानशावेष्यति तु सस्यौ" (सि० ५–२–२०) शतृप्रत्ययः । अत्रोपमाश्लेषसमासोक्तिपर्यायोक्तानि । अखण्डकाव्यवाक्येनाम्राणा परिपक्वफलत्व दर्शितमिति पर्यायोक्तम् ॥ ३७ ॥

दर्शं दर्शं फलितफलदान् पाकिमं पीतलत्वं
　　बिभ्रद्बभ्रुः सरसमकृशं बानशालाटवान्यत् ।
गर्जद्दर्जः फलमथ ललौ लीलयाऽनाश्रवार्थ
　　सारग्रन्थान् कविरिव सुधीः सद्गुणं सूक्तजातम् ॥ ३८ ॥

'अथ' अनन्तर 'बभ्रुः' कृष्ण· 'फलितफलदान्' फलितवृक्षान् 'दर्शं दर्शम्' आभीक्ष्ण्येन दृष्ट्वा लीलया फल ललौ । किंरूपम् ?

'पाकिम' पाकेन निर्वृत्त पाकिम् । कि कुर्वन् ? पीतलत्व बिभ्रन् सरस अक्रुश अत एव 'वानशालाटवान्यत्' वान शुष्क शलाटु अपक्वं तेषा समूहादन्यत् । पुन किरूपः ? गर्जन् गर्जो गजो यस्य । एतेन वृक्षाणा सरलत्वसफलत्वादिगुणा दर्शिताः, येन गजारूढेनापि लीलया फलानि लायन्ते । क इव ? 'सुधीरिव' यथा सुधी· सारग्रन्थान् दर्श दर्श सूक्तजात सुभाषितसमूह लाति । किंविशिष्ट सूक्तजातम् ? अनाश्रवो निर्दोषोऽर्थो यस्य स तम् । 'सद्गुण' सन्त· प्रशस्या गुणा माधुर्याद्या यस्मिन तम् । दर्शन पूर्व "णम् चाभीक्ष्ण्ये" (सि० ५–४–४८) णम् । पाकेन निर्वृत्त पाक्किमम्, पाकादिम· इमप्रत्ययः । वानाना शलाटूना समूहः "षष्ठ्याः समूहे" (सि० ६–२–९) अण्प्रत्ययः । अत्र परिकरजात्युपमाऽनुप्रासाः ॥ ३८ ॥

त्यक्त्वा नागं दृढितपरमप्रेम हस्तेन हस्तं
बद्ध्वा बन्धोर्गज इव गजस्यैष बम्भ्रम्यमाणः ।
वीक्षाञ्चक्रे सरससरसीः सस्मितं पाणिपद्मै-
राम्भीनर्भानिव कलरुतान् पत्रिणः खेलयन्तीः ॥ ३९ ॥

'एष.' कृष्ण सस्मित यथा भवति सरससरसी· वीक्षाञ्चक्रे । कि कुर्वाणः ? 'नाग' गज त्यक्त्वा दृढित दृढीकृत परम प्रकृष्ट प्रेम स्नेहो यथा भवति 'बन्धोः' श्रीनेमिनो हस्तेन हस्त बद्ध्वा 'बम्भ्रम्यमाणः' अत्यर्थ भ्रमन्, 'क इव' ? 'गज इव' यथा गजो गजस्य 'हस्तेन हस्त' शुण्डया शुण्डा बद्ध्वा प्रेम्णाऽत्यर्थ भ्रमति । किंरूपाः सरससरसीः ? 'पाणिपद्मै.' पाणिरूपपद्मैः 'पत्रिणः' पक्षिणः 'खेलयन्ती.' क्रीडयन्ती·, पद्मान्येव पाणिनस्तैः । किंरूपान् पत्रिण. ? उत्प्रेक्ष्यते–'आम्भीन अर्भानिव' अम्भसोऽपत्यानि अर्भान् बालानिव । अन्या अपि योषाः 'पाणिपद्मै.' करकमलैर्बालान् खेलयन्ति । सरसीः (स्य·) योषाः, पद्मानि पाणयः, पत्रिणो बाला इत्यर्थः ।

पुनः किंरूपान् ? 'कलरुतान्' मधुरशब्दान् । पाणिपद्मैरिति तुल्यार्थवाचकधर्मलोपे लुप्तोपमा मृगलोचनावत् । अम्भसोऽपत्यानि आम्भयः "भूयःसभूयोऽम्भोऽमितौजसः सलुक् च" (सि० ६–१–३६) इञ्प्रत्ययः सलोपः, "वृद्धिः स्वरेष्वादेर्ञ्णिति तद्धिते" (सि० ७–४–१) वृद्धिः, "अवर्णेवर्णस्य" (सि० ७–४–६८) अलोपः, आम्भिरिति निष्पन्न, ततः पुंल्लिङ्गे शसि आम्भीनिति । अत्रोपमाजात्युत्प्रेक्षारूपकानुप्रासाः ॥ ३९ ॥

तत्रान्यत्रोत्तरसरिसरिद्वापितोयेषु चैष
क्रीडां कर्तुं रतिवशवशावृन्दवर्ती सुगात्रः ।
मृद्नन् पद्भ्यां नलिननिकरं नीरपूरं करेणो-
दस्यन् पश्यन्नधिमदमुपाक्रंस्त हस्तीव शस्तः ॥ ४० ॥

'एषः' कृष्ण 'तत्र' तासु सरसीषु 'च' अन्यत् अन्यत्र, उत्तरसरिसरिद्वापितोयेषु क्रीडा कर्तुमुपाक्रस्त, उत्तराणि प्रधानानि सरिः निर्झरः सरित् नदी वापी (च) तेषां तोयेषु । क इव ? हस्तीव यथा हस्ती सरोनिर्झरादिजलेषु क्रीडा कर्तुमुपक्रमते । किंरूप एषः ? 'रतिवशवशावृन्दवर्ती' रतिवशा रागवशा या वशाः स्त्रियः तासा वृन्दे वर्तेत इत्येवशीलः, पक्षे रतिवशा वशा हस्तिन्यः तासाम् । पुनः किंविशिष्टः ? 'सुगात्रः' सुन्दरशरीरः, हस्तिपक्षे गात्र पश्चिमभागः । पुनः कथभूत ? 'पद्भ्या' पादाभ्यां नलिननिकर मृद्नन्, समम् । नीरपूर 'करेण' (हस्तेन पक्षे) शुण्डया 'उदस्यन्' उच्छालयन् । अधिमद यथाभवति पश्यन्, समानम् । (पुनः कथम्भूतः ? शस्तः, समम् ।) वापितोयेष्विति "वेदूतोऽनव्ययय्वृदीच्ङीयुवः पदे" (सि० २–४–९८) ह्रस्वः, उपाक्रंस्तेति "प्रोपादारम्भे" (सि० ३–३–५१) आत्मनेपदम् । अत्र परिकरोपमाश्लेषाः ॥ ४० ॥

नाडीं क्वापि क्वचन घटिका याममेकं क्वचिच्च
द्वित्रान् क्वापि क्वचिदपि दिनं पक्षिणं गर्भकं च ।
स्थायं स्थायं सलिलनिलये तीव्रतापोपशान्त्यै
शौरिर्मग्नोऽपि हि रतिरसे दीर्घिकायां ममज्ज ॥ ४१ ॥

'हि' निश्चित 'शौरिः' कृष्णो 'रतिरसे' रागरसे मग्नोऽपि दीर्घिकाया ममज्ज । किं कृत्वा ? 'सलिलनिलये' जलस्थाने क्वापि 'नाडीं' घटिकाम्, क्वचन घटिकाः वहुवचनाद्बह्वीः, 'च' अन्यत् क्वचित् 'एक याम' प्रहरम्, क्वापि द्वित्रान् प्रहरान्, क्वचिदपि 'दिनं पक्षिण' द्वाभ्या रजनीभ्या वेष्टितमहः पक्षी त पक्षिणम्, पार्श्वद्वये रात्रिरन्तराले दिनम्, क्वापि 'गर्भक' रजनीयुगम्, अर्वाचीना पराचीना च रात्रिरेकत्र मध्ये दिनमन्यत्र, 'स्थाय स्थायं' आभीक्ष्ण्येन स्थित्वा स्थित्वा । किमर्थम् ? 'तीव्रतापोपशान्त्यै' तीव्रतापोपशमनार्थम् । स्थाय स्थायमिति स्थान पूर्व "खण चाभीक्ष्ण्ये" (सि० ५–४–४८) खणम् । अत्र रतिरसे मग्नोऽपि दीर्घिकाया ममज्जेति विरोध., योऽन्यत्र मग्नो भवति सोऽन्यत्र कथ मज्जति ? तापाधिक्यप्रतिपादन वाच्यम् । अत्रोदात्तविरोधानुप्रासा. ॥ ४१ ॥

तस्यां श्रोणिद्वयसपयसि स्मेरपङ्केरुहायां
रत्नश्रेणीखचितनिचितस्वर्णसोपानकायाम् ।
हर्षात् खेलन् सह सहचरीरत्नवारेण तारा-
चक्रेणेवाभ्रमदुडुपतिर्मेरुमन्वेष नेमिम् ॥ ४२ ॥

'एषः' कृष्णो नेमि अनु अभ्रमत् । कि कुर्वन् ? 'तस्या' दीर्घिकाया 'सहचरीरत्नवारेण' अन्तःपुररत्नसमूहेन सह हर्षात् 'खेलन्' क्रीडन् । किंविशिष्टाया तस्याम् ? 'श्रोणिद्वयसपयसि' श्रोणेः कटीतटस्योर्ध्वं पयो यत्र सा तस्याम् । (पुनः कथभूतायाम् ?) रत्नश्रेणीभिः खचितानि बद्धानि निचितानि दृढानि स्वर्णसोपानकानि यस्या सा तस्याम् । क इव ? 'उडुपतिरिव' चन्द्र इव, यथोडुप-

तिस्ताराचक्रेण सह मेरुमनु भ्रमति । श्रोणेरूर्ध्वं श्रोणिद्वयस "वोर्ध्वे दघ्नट्द्वयसट्" (सि० ७-१-१४२) द्वयसट्प्रत्ययः, अभ्रमदित्यत्र अद्यतनी ह्यस्तनी वा, ह्यस्तन्या "भ्रासभ्लास"- (सि० ३-४-७३) इति विकल्पेन शव्, अद्यतन्या लृदित्वाद् अङ् । अत्रोदात्तोपमानुप्रासाः ॥ ४२ ॥

पत्याकूतं यदुपतिगृहाः संविदाना मदाना-
माद्यं बीजं निवसितसितश्लक्ष्णपत्तोर्णवर्ण्याः ।
दृक्कोणेन त्रिभुवनमपि क्षोभयन्त्यः परीयुः
कर्मापेक्षाः परमपुरुषं मोहसेनाः प्रभुं तम् ॥ ४३ ॥

'यदुपतिगृहाः' कृष्णान्तःपुर्यः त प्रभुं 'परीयुः' परिवृतवत्यः । किंरूपा यदुपतिगृहा· ? 'पत्याकूत'पत्यभिप्राय 'सविदाना·'जानन्त्यः, पुन· किंरूपाः ? मदानामाद्य 'बीज' कारणम्, पुनः कथभूताः ? 'निवसितसितश्लक्ष्णपत्तोर्णवर्ण्या·' निवसितानि परिहितानि सितानि श्वेतानि श्लक्ष्णानि मृदूनि पत्तोर्णानि धौतवस्त्राणि तैर्वर्ण्याः, (पुनः किंभूताः ?) 'दृक्कोणेन' नयनप्रान्तभागेन त्रिभुवनमपि क्षोभयन्त्यः, कर्म विलासकर्म अपेक्षन्त इति कर्मापेक्षा., पुनः किंभूताः ? मोहस्य सेना इव मोहसेनाः । किंरूप तम् ? परमपुरुषम्, पक्षे यथा मोहसेनाः परमपुरुष आत्मान परियन्ति, किंरूपा मोहसेनाः ? कर्म ज्ञानावरणादि तदपेक्षन्त इति कर्मापेक्षाः । सविदाना इति 'विदक् ज्ञाने" सपूर्व· सवदन्तीत्येवशीलाः "वय:शक्तिशीले" (सि०५-२-२४) इति शानप्रत्यय· । अत्रानुप्रासरूपकश्लेषातिशयोक्तय· ॥ ४३ ॥

तासां लीलोल्लुलनजनिता गुन्दलन्ति स्म तोय-
ध्वाना वीचिप्रचलनलिनीनायिकाः साध्वनृत्यन् ।
श्रोत्रापेयं मधुकरकुलैर्गीयते सातिरक्तं,
तस्येत्यासीदिव नवरसा शुद्धसङ्गीतरीतिः ॥ ४४ ॥

उत्प्रेक्ष्यते—'तस्य' भगवतः 'इति नवरसा शुद्धसङ्गीतरीतिः

आसीदिव' नवो रसो अद्भुतादिर्यस्याः शुद्धा निर्दोषा सङ्गीतस्य नाट्यस्य रीतिः। इतीति किम् ? 'तासा' अन्तःपुरीणा 'लीलोल्लनजनिताः' लीलाखेलननिष्पादिता· 'तोयध्वानाः' तोयशब्दाः 'गुन्दुलन्ति स्म' मर्दलस्य ध्वनिर्गुन्दुलः कथ्यते ततो मर्दलधोङ्कारायन्ते स्म, 'वीचिप्रचलनलिनीनायिकाः' वीचिभि. कल्लोलै· प्रचलाः चपला नलिन्यः कमलिन्य एव नायिका नर्तक्यः साधु यथा भवति अनृत्यन्, 'मधुकरकुलैः' भृङ्गपटलैः श्रोत्रापेय 'अतिरक्त' अतिमधुर गीयते स्म श्रोत्रैः श्रवणै. आपीयत इति लक्षणयाऽस्यर्थं श्रूयत इति। अन्यत्रापि नाट्ये मर्दलधोङ्कारा भवन्ति, नर्तक्यो नृत्यन्ति, गायना गायन्ति। अत्र रूपकोत्प्रेक्षोदात्तातिशयोक्तय·॥४४॥

पूरं पूरं सुरभिसलिलैः स्वर्णशृङ्गाणि रङ्गात्
सारङ्गाक्ष्यः स्मितकृतममुं सर्वतोऽप्यभ्यषिञ्चन् ।
धारा धाराधर! सरलगास्ताश्च वारामपाराः
स्मारादोऽङ्गप्रसृमरशरासारसारा विरेजुः ॥ ४५ ॥

'सारङ्गाक्ष्य.' स्त्रियः रङ्गान् 'अमु' भगवन्त सर्वतोऽपि 'अभ्यषिञ्चन्' अभिषिषिचु.। कि कृत्वा ? स्वर्णशृङ्गाणि सुरभिसलिलै 'पूर पूर' (आभीक्ष्ण्येन) पूरयित्वा, किरूप अमुम् ? स्मित हास्य करोतीति स्मितकृत् त स्मितकृतम्। 'हे धाराधर!' हे मेघ! 'च' अन्यत् ताः 'वारा' जलाना अपारा धारा· 'स्मारादोऽङ्गप्रसृमरशरासारसाराः' स्मरसबन्धिनः अमुष्य अङ्ग प्रति प्रसृमरा· प्रसरणशीलाः शरा बाणास्तेषा आसारो वेगवद्वृष्टिस्तद्वत् साराः शोभनाः 'विरेजुः' शुशुभु·, वारिधारा एव भगवदङ्गे प्रसृमराः स्मरबाणधोरणि (ण्यः)। किरूपा धाराः ? सरल गच्छन्तीति सरलगाः "क्वचित्" (सि० ५–१–१७१) डप्रत्ययः, स्वामिनोऽङ्गे सरलतया पतन्त्य· सन्तीत्यर्थः। अत्र जात्युदात्तनिदर्शनानुप्रासा· ॥ ४५ ॥

नित्योन्निद्रं पुरुपरिमलं राजतेजोविराजि
स्पष्टश्रीकं वदनकमलं देव! ते सेवतेऽदः।
स्थानभ्रष्टं जितमिति वदन्त्येव कर्णावतंसी-
चक्रे काचिद्दशशतदलं लीलयोल्लूय तस्य ॥ ४६ ॥

काचित् 'दशशतदल' सहस्रदल लीलया 'उल्लूय' उच्चित्य तस्य 'कर्णावतसीचक्रे' कर्णाभरण विदधे। किं कुर्वती? इति वदन्त्येव, इतीति किम्? हे देव! 'अद:' कमल 'ते' तव वदनकमल सेवते। कुत: सेवते? विशेषणद्वारेण हेतुमाह—जितम्। तज्जये हेतू-नाह—किंरूप वदनकमलम्? 'नित्योन्निद्र' नित्यविकस्वर, कमलं तु दिवा विकस्वर रात्रौ सकुचति, पुन: किंरूपम्? पुरुः प्रभूतः परिमलो यस्य तत्, कमलस्य तु परिमलः परिमित एव, पुनः किंरूपम्? 'राजतेजोविराजि' राज्ञस्तेजो राजतेजस्तेन विराजते इत्येवशीलम्, कमल तु राजतेजोविराजि न स्यात्, राजा चन्द्रस्तस्य तेजसा न विराजते, पुनः किंरूपम्? स्पष्टा प्रकटा श्रीर्यस्य तत्, कमले हि श्री रूढ्यैव, किंविशिष्ट कमलम्? स्थानाद्भ्रष्टम्, यतः स्थानभ्रष्ट येन जित स्यात्तत्तस्य सेवा कुरुते, स्वामिनो वदनशोभा-धिक्य प्रतिपादितम्। अत्र परिकरहेतुव्यतिरेकाः ॥ ४६ ॥

स्पर्धध्वे रे! नयननलिने निर्मले देवरस्य
स्मित्वेत्येवं शिततरतिरःकाक्षकाण्डान् किरन्ती।
कन्दोत्खातान् धवलकमलान् कामपाशप्रकाशान्
नाशाशास्यानुरसि सरसाऽहारयत् स्वामिनोऽन्या ॥४७॥

अन्या सरसा धवलकमलान् स्वामिन. 'उरसि' हृदये 'अहार-यत्' हारमकरोत्। किं कृत्वा? इत्येव स्मित्वा। एवमिति किम्? रे कमला! यूय देवरस्य निर्मले 'नयननलिने स्पर्धध्वे' नयनक-मलाभ्या सह स्पर्धां कुरुथ। किं कुर्वती? 'शिततरतिरःकाक्ष-काण्डान् किरन्ती' तीक्ष्णतरतिर्यक्कटाक्षबाणान् विक्षिपन्ती। किंरू-पान् धवलकमलान्? कन्दात् उत्खातान् उत्पाटितान् कन्दोत्खा-

तान्, पुनः किंरूपान्? 'कामपाशप्रकाशान्' कामपाशवत् प्रकाशान् प्रकटान्, प्रकटः कामपाशो यादृशः स्यात्तादृशान्, पुनः किंरूपान्? 'नाशाशास्यान्' नाशया नासिकया आशास्यान् अभिलष्यान्। अत्र कमलानि हारीकृतानि तेषामपि कामपाशारोपः। कमलशब्दः पुनपुंसकलिङ्गे। हारमकरोत् "णिज्बहुल०" (सि० ३–४–४२) णिच्प्रत्ययः। अत्र प्रत्यनीकजातिरूपकानुप्रासा.॥ ४७॥

क्रीडां हेमद्युतिहरिवधूबन्दितो बान्धवस्य
प्रीत्यै तन्वन् प्रतिकृतशतैरप्सु हर्षैकहेतुः।
श्यामः स्वामी चिकुरविगलद्वारिधारश्चकाशे
विद्युन्मालापरिगतवपुर्वल्गु वर्षन्निव त्वम्॥ ४८॥

श्यामः स्वामी चिकुरविगलद्वारिधार. सन् चकाशे, चिकुरेभ्यः केशेभ्यो विगलन्ती वारिधारा यस्यासौ। किं कुर्वन्? 'अप्सु' जलेषु 'बान्धवस्य' श्रीकृष्णस्य प्रीत्यै प्रतिकृतशतै. क्रीडां तन्वन्, कृतात् प्रति यत् क्रियते तत् प्रतिकृतमुच्यते, अन्तःपुर्यो जलच्छटाभिः स्वामिन सिञ्चन्ति, स्वाम्यपि श्रीकृष्णस्य प्रमोदाय वारिधाराभिस्ताः सिञ्चति। किंरूपो भगवान्? ('हर्षैकहेतुः' प्रमोदस्य एक अद्वितीयो हेतु., पुनः किंभूत.) 'हेमद्युतिहरिवधूबन्दित.' हेमवत् द्युतिर्यासां ता हेमद्युतयः, हेमद्युतयश्च ता हरिवध्वश्च हेमद्युतिहरिवध्वः ताभिर्बन्दितः बन्दीकृत., यथा कोऽपि बन्दीकृतो न मुच्यते तथा ता अपि वेष्टयित्वा स्थिता भगवतो गन्तुं न ददति। क इव? त्वमिव, यथा हे मेघ? त्वं 'वल्गु' मनोज्ञं वर्षन् काशसे दीप्यसे। किंरूपः (त्वम्)? विद्युन्माला सौदामिनीपङ्क्तिस्तया परिगत वेष्टित वपुर्यस्य सः, हरिवध्वो विद्युन्माला, गलज्जलधारा च वृष्टिः, स्वामी च मेघः। चकाशे इत्यत्र "काशृङ् दीप्तौ" इतिधातोः परोक्षाएप्रत्ययान्तस्य रूपम्। अत्र जातिनिदर्शनानुप्रासा.॥ ४८॥

अश्रान्तोऽपि श्रममिव वहन् व्यक्तमुक्तायिताम्भो-
बिन्दू रक्तोत्पलदललवामुक्तरक्ताङ्कराढः।

श्रीमान्नेमिर्जलपतिकफन्पुण्डरीकप्रकाण्डो
वारांराशेरिव सुरकरी पुष्करिण्या निरैयः ॥ ४९ ॥

श्रीमान्नेमिः 'पुष्करिण्याः' दीर्घिकायाः 'निरैयः' निरगच्छत् । क इव ? 'सुरकरी इव' यथा सुरकरी ऐरावणो 'वारांराशेः' समुद्रान् निरियर्ति (स्म)। किंरूपो भगवान् ? 'अश्रान्तोऽपि' अनिर्विण्णोऽपि श्रम वहन्निव, यद्यपि भगवाननन्तवीर्यत्वात् क्रीडया खेदं नाप्नोति तथापीमा अपारमार्थिक्य इत्यनादरेण श्रममिव वहन् । पुनः किंरूपः ? 'व्यक्तमुक्तायिताम्भोबिन्दुः' व्यक्तं स्पष्टं मुक्तावदाचरिता अम्भोबिन्दवो यस्य स व्यक्तमुक्तायिताम्भोबिन्दुः, यथा ऐरावणस्य समुद्रे क्रीडित्वा निर्गतस्य मुक्ताः शरीरे लगन्ति, स्वामिनस्तु मुक्तासदृशा अम्भोबिन्दवः, एवं सर्वत्रैरावणधर्मो ज्ञेयः । पुनः कथंभूतः ? रक्तोत्पलदलाना लवैः पत्रशकलैरामुक्ता बद्धा रक्ताङ्काना प्रवालाना राढा शोभा यस्य सः, समुद्रान्तः प्रवालानि अत्र च रक्तोत्पलदलशकलानि । पुनः किंरूपः ? जलपतिकफः फेनस्तद्वदाचरन्तः पुण्डरीकप्रकाण्डा धवलकमलमूलानि यस्य सः, ऐरावणस्य शरीरे फेनो लगति, प्रभोः फेनतुल्याः पुण्डरीकप्रकाण्डाः । निरैयरित्यत्र "ऋक् गतौ" ऋ निर्पूर्वः, ह्यस्तनी—दिव्, "हवः शिति" (सि० ४—१—१२) द्विः, "ऋतोऽत्" (सि० ४—१—३८) ऋ अ, "पृभृमाहाङामिः" (सि० ४—१—५८) इत्वम्, "पूर्वस्यास्वे स्वरे य्वोरियुव्" (सि० ४—१—३७) इय्, "स्वरादेस्तासु" (सि० ४—४—३१) वृद्धिः ऐ, "नामिनो गुणोऽक्ङिति" (सि० ४—३—१) अर्, "व्यञ्जनादेः सश्च द" (सि० ४—३—७८) दिव्लोपः, "रः पदान्ते विसर्गस्तयोः" (सि० १—३—५३) विसर्गः । अत्र रूपकनिदर्शनोपमानुप्रासालङ्काराः ॥ ४९ ॥

इत्याचार्य-श्रीशीलरत्नसूरिविरचितायां श्रीजैनमेघदूत-
महाकाव्यटीकायां द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

अथ तृतीयः सर्गः ।

पूर्वस्मिन् सर्गे भगवान् जलक्रीडां कृत्वा निर्गत इति तद-वसरोचितां चेष्टामाह—

तस्योत्तंसीकृतशतदले तोयबिन्दून् वमन्ती
बभ्रासाते विरुतनिरतालोलरोलम्बचुम्ब्ये ।
हा ! त्रैलोक्यप्रभुनयनयोः स्पर्धनादेनसां नौ
वृत्ते पात्रं प्ररुदित इतीवानुतप्ते सशब्दम् ॥ १ ॥

'तस्य' भगवतः 'उत्तंसीकृतशतदले' कर्णाभरणीकृतशतपत्रे 'बभ्रा-साते' रेजाते । किं कुर्वती ? 'तोयबिन्दून् वमन्ती' उदकबिन्दून् स्रवन्ती, पुनः किंरूपे ? विरुतेषु शब्देषु निरता आसक्ता आलोलाः चञ्चला रोलम्बा भ्रमराः तैश्चुम्ब्ये चर्वणीये । उत्प्रेक्ष्यते—इति 'अनुतप्ते' पश्चात्तापतापिते सती सशब्द 'प्ररुदित इव' प्रकृष्ट रुदित इव । इतीति किम् ? 'नौ' आवा 'हा' धिक्, किंरूपे नौ ? 'त्रैलो-क्यप्रभुनयनयोः' श्रीनेमिनयनयोः स्पर्धनात् 'एनसा' पापाना 'पात्र' भाजन 'वृत्ते' जाते, तोयबिन्दुस्रवण रोदन भ्रमरारवश्च सशब्द-पश्चात्तापतयोत्प्रेक्षाश्चक्रे । नौ इत्यत्र हायोगे "गौणात् समयानिक-षाहाधिगन्तरान्तरेणातियेनतेनैर्द्वितीया" (सि० २–२–३३) इति द्वितीया । प्ररुदित इत्यत्र "रुतपञ्चकाच्छिदयः" (सि० ४–४–८८) इतीट् । अत्रोत्प्रेक्षानुमानानुप्रासाः ॥ १ ॥

दानश्च्योती द्विप इव झरन्निर्झरो वाञ्जनाद्रिः
पिण्डीभूतं वियदिव मनाक् शारदं वर्षदब्दम् ।
निन्ये सर्वापघननिपतन्मेघपुष्पोऽञ्जनाभः
श्रीमान्नेमिः सपरिवृढतां फुल्लकङ्केल्लिमूलम् ॥ २ ॥

श्रीमान्नेमिः फुल्लो विकसित. कङ्केल्लिः अशोकस्तस्य मूलं सपरिवृढता सनाथता निन्ये, एतावता कङ्केल्लिमूले प्रभुस्तस्थावित्यर्थः । किंरूपो भगवान् ? 'सर्वापघननिपतन्मेघपुष्पः' सर्वेऽपघना अङ्गावयवास्ते-

भ्यो निपतन् क्षरत् मेघपुष्पं जलं यस्य, पुनः किंरूपो भगवान् ? 'अञ्जनाभः' अञ्जनवर्णः । गलज्जलबिन्दून् वर्णं चाश्रित्य तदनुरूपा उत्प्रेक्षा आह, उत्प्रेक्ष्यते—'दानश्च्योती' दानं मदजलं श्च्योततीति क्षरतीति ईदृशो 'द्विपः' गज इव, उत्प्रेक्ष्यते—'झरन्निर्झरः' निर्झरस्रावी अञ्जनाद्रिर्वा इव, वा इवार्थे, अथवा उत्प्रेक्ष्यते—पिण्डीभूतं 'शारदं' शरत्सबन्धि 'वियत्' आकाशमिव । किंविशिष्टं वियत् ? 'मनाक्' अल्पं 'वर्षदब्दं' वर्षन् अब्दो मेघो यस्मिन् तत् । अत्र मालारूपोत्प्रेक्षापर्यायोक्तानुप्रासाः ॥ २ ॥

गोप्तुं शक्ते अपि गुणवती नैव सङ्गाज्जडानां
गुह्यं भर्तुस्तदलमनयोः सेवयेत्येष तूर्णम् ।
श्च्योतत्पाथःपृषतमिषतः साश्रुणी वातिसक्ते
अप्यत्याक्षीत् परिहितचरे वाससी श्वासहार्ये ॥ ३ ॥

'एष' भगवान् इति 'परिहितचरे' पूर्वं परिहिते 'वाससी' वस्त्रे 'तूर्णं' शीघ्रं 'अत्याक्षीत्' त्यक्तवान् । इतीति किम् ? इमे गुणवती अपि जलानां सङ्गाद् भर्तुर्गुह्यं गोप्तुं न शक्ते, गुणास्तन्तवः, 'गुह्यं' आच्छाद्यमङ्गम्, 'तत्' तस्मात्कारणात् अनयोः सेवया 'अलं' पूर्यताम् । अत्रान्योक्तिमाह—अन्योऽपि यो गुणवानपि 'जडानां' मूर्खाणां सङ्गात् 'भर्तुर्गुह्यं' रहस्यं 'गोप्तुं' रक्षितुं शक्तो न भवति स स्वामिनः सेवकस्त्याज्यो भवति । किंरूपे वाससी ? उत्प्रेक्ष्यते—'श्च्योतत्पाथःपृषतमिषतः साश्रुणी' 'वा' इवार्थे श्च्योतन्तः क्षरन्तः पाथसो जलस्य पृषता बिन्दवस्तेषां मिषतः कपटात् साश्रुणी अश्रुसहिते इव, पुनः किंरूपे ? 'अत्या(ति)सक्ते अपि' अत्यर्थमासक्ते लग्ने अपि । अन्योऽपि यः सेवकोऽत्यासक्तोऽतिभक्तो यदा केनचिद्दोषेण त्यज्यते तदा स साश्रुर्भवति । पुनः किंरूपे ? अतिलघुत्वात् 'श्वासहार्ये' श्वासेन हरणीये । साश्रुणी वेति वा इवार्थे, इवशब्दप्रयोगेऽपि मणी इव मणीवेत्यादिवत् परमतेन सन्धिर्भवति,

यथा **नैषधे**—"मणीव नीलौ तरलौ विरेजतुः" । पृषतशब्दोऽका-रान्तोऽप्यस्ति "पृषत्पृषतविप्रुष." (अभि० चिन्ता० ४–१५५) इति वचनात् । पूर्वं परिहिते परिहितचरे "भूतपूर्वे चरट्" (सि० ७–२–७८) चरट्प्रत्ययः । अत्र समासोक्तिकाव्यलिङ्गोत्प्रेक्षानुप्रासाः ॥३॥

मूर्त्तो मूर्त्यानुपममहसा गीयसे शम्बरस्या-
रातिस्तत्तत्परिचितिरनौचित्यमाविर्विधत्ते ।
इत्यूचाना निजशुचिसिचा भीष्मजोन्मृज्य वर्ष्माऽऽ-
नैषीद्ये ते स शशिविशदे वाससी पर्यधत्त ॥ ४ ॥

'भीष्मजा' रुक्मिणी ये 'वाससी' वस्त्रे आनैषीत् 'सः' भगवान् 'ते' वाससी 'पर्यधत्त' परिहितवान् । किं कृत्वा ? 'निजशुचिसिचा' सिग् वस्त्रं तथा 'वर्ष्म' शरीरं 'उन्मृज्य' निर्जलं कृत्वा, सिच्‌शब्द. स्त्रीलिङ्गः । किं चक्राणा भीष्मजा ? 'इति ऊचाना' इति जल्पित-वती, इतीति किम् ? हे देवर ! त्वं 'मूर्त्या' शरीरेण मूर्त्त. शम्ब-रस्य 'अरातिः' शत्रुः कामः 'गीयसे' कथ्यसे । किंविशिष्टया मूर्त्या ? अनुपममहसा । तत्तस्मात्कारणात् 'तत्परिचितिः' तस्य शम्बरस्य परिचितिः 'अनौचित्यं' अनुचितत्वं 'आविर्विधत्ते' प्रकटं करोति, यो हि यस्य वैरी तस्य तत्सङ्गो न युक्तः, त्वं तु मूर्त्तिमान् शम्बरस्य वैरी कामः, अतः शम्बरपरिचयो नार्हः, शम्बरशब्देन कामवैरी जलं च कथ्यते । किंरूपे वाससी ? 'शशिविशदे' चन्द्रो-ज्ज्वले । अत्र श्लेषविरोधाभासोपमानानुप्रासाः ॥ ४ ॥

सौवर्णेऽथ न्यविशत विभुर्विष्टरे रिष्टरेखा-
लेखालोक्ये सितनिवसनः संप्रयुक्ते तयैव ।
नन्द्यावर्तावलिवलयिनि स्वर्णशैले निषण्णं
त्वामेव स स्मरयति तथा सद्बलाकाकलापम् ॥ ५ ॥

'अथ' अनन्तरं विभुः 'सौवर्णे' सुवर्णमये 'विष्टरे' आसने 'न्यविशत' निविष्टः । किंविशिष्टे विष्टरे ? 'रिष्टरेखालेखालोक्ये'

रिष्टरत्नाना रेखास्तासां लेखाभिः श्रेणिभि आलोक्ये विलोकनार्हे, अथवा रेखाभिर्लेखानां देवानामपि आलोक्ये विलोकनीये। पुनः किंरूपे? 'तयैव' रुक्मिण्यैव 'सम्प्रयुक्ते' स्थापिते। किंरूपो भगवान्? 'सितनिवसनः' सितानि श्वेतानि निवसनानि वस्त्राणि यस्य सः। तथा तस्मिन्नवसरे विभुस्त्वामेव 'स्मरयति स्म' असस्मरत्, जनमिति कर्माध्याहारः, जनस्त्वामस्मरत्, प्रभुर्जन त्वा स्मरयति स्म। किरूप त्वाम्? 'स्वर्णशैले' मेरुगिरौ 'निषण्णं' निविष्टम्। किंरूपे स्वर्णशैले? 'नन्द्यावर्तावलिवलयिनि' नन्द्यावर्तोना वृक्षाणामावलि श्रेणिस्तस्या वलय विद्यते यस्मिन् स तस्मिन्। पुनः किंरूपं त्वाम्? सन् प्रधानो वलाकाना कलापो यस्मिँस्तम्। मेघः स्वामी, स्वर्णशैलः सिंहासनम्, वृक्षावलिवलयमरिष्टरेखा, बलाकाकलापः श्वेतवस्त्राणि। न्यविशतेति "निविश·" (सि० ३–३–२४) इत्यात्मनेपदम्। सुवर्णस्य विकारोऽवयवो वा सौवर्णम्, "हेमादिभ्योऽञ्" (सि० ६–२–४५) अञ्प्रत्ययः। स्मरयतीत्यत्र "स्मृ आध्याने" इति स्मृधातुर्णिगन्तः, वृद्धौ सत्या "घटादेर्ह्रस्वो०" (सि० ४–२–२४) इत्यादिसूत्रेण ह्रस्वः। अत्र स्मरणानुप्रासौ ॥ ५ ॥

विष्णोः पत्न्यः प्रकृतय इव स्पष्टमष्टासु काष्ठा-
स्त्वष्टाप्येतं परमपुरुषं कर्मणां पर्यवृण्वन्।
भावान्वायिस्थितिविरचना व्यक्तसद्वेषरागा
भोगासुक्ता विविधरुचयः सङ्गतात्मप्रदेशाः ॥ ६ ॥

अष्टापि विष्णोः पत्न्यः स्पष्ट यथा भवति अष्टास्वपि काष्ठासु एत 'परमपुरुष' भगवन्त 'पर्यवृण्वन्' परिवृतवत्यः। का इव? 'कर्मणां प्रकृतय इव' यथा कर्मणा प्रकृतयः परमपुरुष आत्मान परिवृण्वन्ति। किंविशिष्टा विष्णोः पत्न्यः प्रकृतयश्च? "भावान्वायिस्थितिविरचना" इति भावः स्त्रीणामङ्गजो विकारः किलिकिञ्चितादिः तदन्वायिनी तदनुगामिनी स्थितिः देहावस्था तस्या भुजोत्क्षेपनयनोल्लासादेर्विरचनं यासा ताः, भावानुमानेन देहावस्थान विरचयन्त्य.। पक्षे भावो

मनःपरिणामस्तदन्वायिनी तदनुगामिनी स्थितिः कालावधारण तस्या विरचन यासा ताः, कर्मणा हि स्थितिर्मनःपरिणामेन बध्यते, यथा यथा क्लिष्ट· परिणामः तथा तथा कर्मणा स्थितिर्वर्धते, "ठिइअणुभाग कसायओ कुणइ" इति वचनात् । यथा ज्ञानावरणस्य त्रिंशत्सागरकोटाकोटिमाना स्थितिः, एव शेषाणामपि । पुनः किंरूपाः ? 'व्यक्तसद्वेषरागाः' व्यक्तः स्पष्टः सन् प्रधानो वेषे शृङ्गाररूपे रागो यासा ताः, 'भोगामुक्ता.' भोगैरमुक्ताः, प्रकृतिपक्षे व्यक्तः प्रकटः सद्वेषो द्वेषसहितो यो रागस्तस्याऽऽभोगो विस्तारस्तेन आमुक्ता बद्धाः, रागद्वेषविस्तारेण कर्मबन्ध इति । पुन· किंरूपाः ? 'विविधरुचयः' विविधा बहुप्रकारा रुचिः इच्छा कान्तिर्वा यासा ताः, प्रकृतिपक्षे विविधा रुचिः इच्छा भोगसुखक्रीडादिका याभ्यस्ताः, कर्मप्रकृतिप्रेरणयैवाऽऽत्मनो विविधवाञ्छासभवात् । सङ्गतो युक्त आत्मनः प्रदेशोऽवस्थानरूपो यासा ताः, युक्ते युक्ते स्थाने स्थिता इत्यर्थ·, प्रकृतिपक्षे सङ्गता मिलिता आत्मनः प्रदेशा यासा ताः, आत्मनः प्रदेशैर्हि कर्मस्कन्धप्रदेशा वह्न्ययःपिण्डन्यायेन सङ्गताः श्लिष्टा वर्तन्ते इति । अत्रोपमानश्लेषानुप्रासाः ॥ ६ ॥

आचख्याविल्यथ सविनयं भीष्मजा राजदन्त-
ज्योत्स्नाव्याजान्मलयजरसैः स्वामिनं सिञ्चती तम् ।
विश्वेवास्मान् सहसि भगवन्नुष्यसे तद्विशङ्कं
स्त्री गङ्गेवाधिवसति शिरो मानिताऽपीश्वरस्य ॥ ७ ॥

'अथ' अनन्तर 'भीष्मजा' रुक्मिणी सविनय यथा भवति इति 'आचख्यौ' जगाद । किं कुर्वती ? राजदन्तज्योत्स्नाव्याजात् 'मलयजरसैः' चन्दनरसैः तं स्वामिनं सिञ्चती, राजदन्ता मुख्यदन्तास्तेषा किरणान्येव बहुलत्वात् ज्योत्स्नेव ज्योत्स्ना तस्या व्याजात् कपटात् । इतीति किम् ? हे भगवन् ! चेत् यदि त्व 'विश्वा इव' पृथ्वी इव अस्मान् 'सहसि' क्षमसे, यथा पृथिवी सर्वसहा तथा त्वमपि अस्माकमुच्चनीचवचनैर्यदि न कुप्यसि 'तत्' तस्मात् 'विशङ्कं'

नि शङ्क 'उश्यसे' त्व जल्प्यसे, स्त्री मानिता सती गङ्गेव ईश्वरस्यापि शिरोऽधिवसति, यथा गङ्गा ईश्वरेण मानिता सती शिरोऽधितष्ठौ। अत्र दन्ताना राजा राजदन्तः "राजदन्तादिषु" (सि० ३-१-१४९) अनेन राजशब्दस्य प्राग्निपातः। सहसीति "षह मर्षणे" षह्, "धात्वादेः षः सो-" (सि० २-३-९८) सह्, "युजादेर्न वा" (सि० ३-४-१८) इति विकल्पेन णिजभावः। उश्यसे इति "वशक् कान्तौ" वश् ते क्य, "वशेरयङि" (सि० ४-१-८३) वकारस्य य्वृत् उ। अधिवसतीति योगे शिर इत्यत्र "उपान्वध्याङ्वसः" (सि० २-२-२१) अनेन आधारस्य कर्मत्वम्। अत्रातिशयोक्ति-अपह्नुति-उपमानार्थान्तरन्यासाः॥ ७॥

पुनरपि रुक्मिणी वाक्यमाह—

रूपं कामस्तव निशमयन् व्रीडितोऽभूदनङ्गो
लावण्यं चाबिभ ऋभुविभुर्लोचनानां सहस्रम्।
तारुण्यश्रीर्व्यशिषदथ ते पुष्पदन्तौ शरद्व-
न्नेताऽरण्यप्रसवसमतां त्वं विना स्त्रीरमूनि॥ ८॥

हे देवर! कामस्तव रूप 'निशमयन्' विलोकयन् सन् 'व्रीडितः' लज्जितोऽनङ्गोऽभूत्, अग्रे काम एव रूपवानिति प्रसिद्धिरभूत्, यदा च भगवतो रूप लोकोत्तरमात्माधिक दृष्ट तदा तेन लज्जितेनाङ्गमेव त्यक्त तदाप्रभृत्यनङ्गोऽभूत्। 'ऋभुविभुः' इन्द्रः तव लावण्य निशमयन् लोचनाना सहस्र 'अबिभः' अधरत्, इन्द्रस्तु लावण्यं विलोकयन् द्वाभ्या लोचनाभ्या द्रष्टुमक्षमत्वाल्लोचनसहस्र बभार। 'अथ' अनन्तर तारुण्यश्रीः ते रूपलावण्ये 'व्यशिषत्' विशिनष्टि स्म, किंवत्? 'शरद्वत्' यथा शरत् 'पुष्पदन्तौ' चन्द्रसूर्यौ विशिनष्टि। त्व 'अमूनि' रूपलावण्यतारुण्यश्रियः स्त्रीर्विना 'अरण्यप्रसवसमता' अरण्यपुष्पतुल्यता 'नेता' प्रापयिता, यथाऽरण्यपुष्पाणि कस्यापि कार्ये नाऽऽयान्ति एव तवापि रूपलावण्यतारुण्यानि पाणिग्रहण विना स्त्रीभोगाभावात् व्यर्थानि भविष्यन्ति।

निशमयन् अत्र णिग् स्वार्थे यथा पालयतीति, ततः "शमोऽदर्शने" (सि० ४–२–२८) इतिसूत्रेण दर्शनार्थे ह्रस्वो न स्यात्, तेन निशामयन् स्यात्, पर केचित्तु दर्शनेऽपीच्छन्ति । अबिभः "डुडुभृंग्क् पोषणे च" भृ, ह्यस्तनी–दिव्, "अड् धातोरादि०" (सि० ४–४–२९), "ह्वः शिति" (सि० ४–१–१२) द्विः, "ऋतोऽत्" (सि० ४–१–३८) अत्, "द्वितीयतुर्ययोः प्रथमतृतीयौ (पूर्वौ)" (सि० ४–१–४२) भ ब, "पृभृमाहाङामिः" (सि० ४–१–५८), "नामिनो गुणो०" (सि० ४–३–१) अर्, "व्यञ्जनाद्दे. सश्च द०" (सि० ४–३–१८) दिलोपः । व्यशिषत् "शिष्लंप् विशेषणे" अद्यतनी–दि, "लृदित्" (सि० ३–४–६४) अ । पुष्पः० "पुष्पदन्तौ पुष्पवन्तावेकोक्त्या शशिभास्करौ" (अभिधानचि० का० २–३८) इति । स्त्रीरित्यत्र "विना ते तृतीया च" (सि० २–२–११५) इति द्वितीया । इद रूप च इद लावण्य च इय तारुण्यश्रीश्च अमूनि "समानामर्थेनैकः शेषः" (सि० ३–१–११८) एकशेष०, "स्त्रीपुनपुंसकाना सहवचने स्यात्पर लिङ्गम" (लिङ्गानुशासने) इति नपुसकलिङ्गम् । अत्रोदात्तदृष्टान्तकाव्यलिङ्गालङ्काराः ॥ ८ ॥

अथ जाम्बवत्याह—

नाभेयोपक्रममिह यथा आयसोऽध्वा तथैवो-
द्वाहस्यापि स्मरसि तदुपज्ञं न किं देवरेति ।
तत्तां दैवीं स्मृतिमपमृजन् कोऽपि नूत्नोऽसि सार्वो
हारीभूतद्विजमणिघृणिर्जाम्बवत्यप्यगासीत् ॥ ९ ॥

जाम्बवत्यपि 'इति अगासीत्' एवमवादीत् । किंभूता जाम्बवती ? 'हारीभूतद्विजमणिघृणि०' हाररूपतया भूता द्विजमणीनां दन्तमणीना घृणयः (कान्तयः) यस्याः सा । इतीति किम् ? 'इह यथा आयसोऽध्वा नाभेयोपक्रमं' इह जगति यथा येन प्रकारेण आयसो मोक्षसबन्धी अध्वा मार्गो नाभेयस्य श्रीआदिदेवस्य उपक्रमं

आद्यं कृत्यम्, श्रीआदिदेवेन प्रथम दर्शित इत्यर्थः, तथैव उद्वाहस्यापि अथवा 'तदुपज्ञ' तस्यैव श्रीआदिदेवस्य उपज्ञ आद्यज्ञानम्, यतः—"उपज्ञा ज्ञानमाद्य स्यात्" (अभिधानचि०का० ६—९) इति, ततः क्लीबत्वे "क्लीबे" (सि० २-४-९७) ह्रस्वः, विवाहस्यापि मार्गः प्रथम तेनैव दर्शित·, हे देवर! इति कि न स्मरसि? 'तत्' तस्मात्कारणात् त्व ता 'दैवीं' देवसबन्धिनीं 'सृतिं' मार्गं 'अपमृजन्' लुम्पन् कोऽपि 'नूत्नः' नवीनः 'सार्वः' सर्वज्ञोऽसि। उपक्रम उपज्ञ इत्यत्र "आदावुपक्रमोपज्ञे" (लिङ्गा० नपु० ११) इति नपुसकलिङ्गम्। श्रेयो मोक्ष, श्रेयसोऽय श्रायसः "तस्येदम्" (सि० ६-३-१६०) अण्प्रत्ययः, "देविकाशिंशपादीर्घसत्रश्रेयसस्तत्प्राप्तावाः" (सि० ७-४-३) एकारस्य आकारः। देवस्येय दैवी अण् ङी। अहारो हारो भूताः हारीभूताः अभूततद्भावे च्विः, "ईश्च्वाववर्णस्यानव्ययस्य" (सि० ४-३-१११) ई। "कै गै रै शब्दे" गै, "आत् सन्ध्यक्षरस्य" (सि० ४-२-१) गा, अद्यतनी—दि, "सिजद्यतन्याम्" (सि० ३-४-५३) सिच् "सः सिजस्तोर्दिस्योः" (सि० ४-३-६५) ईआगमः, "यमिरमिनम्यातः सोऽन्तश्च" (सि० ४-४-८६) इट् सोऽन्तः, "इट ईति" (सि० ४-३-७१) सिच्लोपः। अतस्त्व पूर्वं पाणिग्रहण कृत्वा पश्चाद्व्रत गृहीथाः, इति श्रीऋषभप्रणीतौ द्वावपि मार्गौ समाचीर्णौ स्तः। अत्र काव्यलिङ्गदृष्टान्तनिदर्शनालङ्काराः ॥ ९ ॥

अथ लक्ष्मणाऽऽह—

गामानैषीद्वदनसदनं लक्ष्मणा लक्ष्मणास्ते
लक्ष्मीर्येषां घनवनमिवान्योन्ययोगैककृत्या।
त्वद्रूपश्रीर्जलधिजलवच्चोपजीव्या परैश्चेत्
तल्लोके कैर्विरस इति नो तर्क्यसे तद्वदेव ॥ १० ॥

लक्ष्मणा वदनसदन 'गामानैषीत्' गा वाणीं, एतावता उवाचेत्यर्थः, अन्याऽपि गौः सदन गृहमानीयते। लक्ष्मणावाक्यमाह—

'लक्ष्मणाः' लक्ष्मीवन्तस्ते येषा लक्ष्मीः 'घनवनमिव' मेघजलमिव 'अन्योपयोगैककृत्या' अन्योपयोग एव परोपकार एव एकं कृत्य यस्याः सा, येषा लक्ष्मीः परोपकारे समेति ते लक्ष्मीवन्त॰, यथा मेघजल परोपकारे एति । 'चेत्' यदि त्वद्रूपश्री॰ परैर्न उपजीव्या, किंवत्? 'जलधिजलवत्' यथा जलधिजल परैर्नोपजीव्यते, 'तत्' तस्मात्कारणात् त्व लोके कैः पुरुषैः 'तद्वदेव' समुद्रवदेव विरस इति 'नो तर्क्यसे?' नो विचार्यसे?, विरसः शृङ्गाररसरहितत्वान्नीरसः, अपि तु सर्वैरपि विचार्यसे, यथा समुद्रः सर्वैरपि विरस इति कथ्यते विरुद्धो रसो यस्येति विरसः क्षार इत्यर्थ., तथा त्वमपि विरसः कथ्यसे । लक्ष्मीर्विद्यते येषा ते लक्ष्मणाः "लक्ष्म्या अनः" (सि० ७–२–३२) अनप्रत्ययः, "अवर्णेवर्णस्य" (सि० ७–४–६८) ईलोप., "रषृवर्णान्नो णः०" (सि० २–३–६३) इति नस्य णत्व । घनवनमिव जलधिजलवदित्यत्र यद्यपि लिङ्गभेद उपमादोष तथाप्यय क्वापि क्वापि प्रयुज्यते, यथा **वाग्भटालङ्कारे**–"हिममिव कीर्तिर्धवला" (४–५९) इति । अत्र पर्यायोक्ततुल्ययोगितोपमानानुप्रासा. । अत्र तव रूपलक्ष्मीः रूपाद्युपभोगे सति सरसा स्यादिति विशेषे प्रस्तुते सति सामान्यरूपाया लक्ष्म्या उक्तिरिति तुल्ययोगिता, "कार्ये निमित्ते सामान्ये, विशेषे प्रस्तुते सति । तदन्यस्य वचस्तुल्ये, तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥ १ ॥" ॥ १० ॥

अथ सुसीमा प्राह—

उत्तस्थेऽथो सपदि गदितुं वाग्मिसीमा सुसीमा
धीमन्! पश्याकल इव गृही न प्रणाय्यः प्रणाय्यः ।
तत्त्वं तन्वन्नु गुरुगिरा स्वद्वितीयां द्वितीयां
प्राप्स्यस्यग्र्या विधुरिव कलाः सर्वपक्षे वलक्षे ॥ ११ ॥

'अथो' अनन्तर सुसीमा 'सपदि' तत्काल 'गदितुं' वक्तु 'उत्तस्थे' उद्युक्ता बभूवेत्यर्थः । किंभूता सुसीमा? 'वाग्मिसीमा'

वाग्मिना वाचोयुक्तीना सीमा मर्यादा, अत्यर्थं वाग्मिनीत्यर्थः । हे श्रीमन्! 'पश्य' विलोकय 'गृही' गृहस्थः 'प्रणाय्यः' निष्कामः सन् 'अकल इव' निष्कल इव 'न प्रणाय्यः' न असम्मत.? अपि तु असम्मत एव । 'तत्' तस्मात्कारणात् 'ननु' निश्चित त्व 'गुरुगिरा' ज्ञातिवृद्धवचनेन स्वस्य आत्मनो द्वितीया 'द्वितीया' पत्नीं तन्वन् सन् अग्र्याः कलाः सौभाग्यादिकाः प्राप्स्यसि । क इव? 'विधुरिव' यथा विधुः 'वलक्षे' उज्ज्वले सर्वपक्षे स्वद्वितीया द्वितीया तिथिं तन्वन् अग्र्याः कलाः प्राप्नोति । उत्तस्थे इत्यत्र "उदोऽनूर्ध्वे हे" (सि० ३-३-६२) आत्मनेपदम् । प्रणीयते इति प्रणाय्यः "प्रणाय्यो निष्कामासम्मते" (सि० ५-१-२३) इति घ्यण्प्रत्यये निपातः ।अत्र रूपकतुल्ययोगितोपमानानुप्रासा. ॥ ११ ॥

अथ गौरी प्राह—

नार्या आर्यापर परमिति त्वं द्विषन् कोऽसि निष्णो
जिष्णोर्मान्या प्रतनभगवच्छान्तिमुख्यार्हतो या ।
संपश्यस्व क्षणमपि महाव्रत्यपीशो न मुञ्चेद्
गौरीं गौरी गिरमिति जगौ प्रेमकोपादगौरी ॥ १२ ॥

गौरी इति गिर जगौ । इतीति किम्? 'हे आर्यापर!' आर्येभ्यो मुग्धेभ्योऽपर वक्र त्व 'नार्याः' स्त्रिय· 'द्विषन्' द्वेष कुर्वन् कः 'निष्णः' दक्षोऽसि? या नारी 'जिष्णोः' नारायणस्य मान्या, अथवा जिष्णोः जयनशीलस्य 'प्रतनभगवच्छान्तिमुख्यार्हतो मान्या' प्रतनः चिरन्तनो भगवान् श्रीशान्तिर्मुख्यो यस्यासौ अर्हन् जिनः तस्य, श्रीशान्तिकुन्थुअरजिनाना चतुःषष्टिसहस्राणि अन्तःपुर्योऽभूवन् । 'सपश्यस्व' विलोकय महाव्रत्यपि ईशः क्षणमपि गौरीं न मुञ्चेत्, यो महाव्रतभृत् स्यात् स स्त्रियां सङ्ग कथ कुर्यात्? ईशस्तु महाव्रतीति प्रसिद्धोऽपि अर्धाङ्गविभक्तत्वात् पार्वतीं क्षणमपि न मुञ्चति, अतो या नारी जिष्णूना लोकोत्तरश्रीशान्तिनाथमुख्य-

जिनानां मान्या, लौकिकस्य महाव्रतिनो हरस्यापि मान्या पाणिग्रहणाकरणेन पराङ्मुखतया तस्या नार्या द्विषन् नवीनः कोऽपि त्व दक्ष इति प्रेमोपहासः। किरूपा गौरी? 'प्रेमकोपात्' स्नेहकोपात् अगौरी, एतावता कोपाधिकारादारक्ता, सकोपोक्त्या जनस्ताम्रवर्णः स्यादिति। नार्या इत्यत्र "द्विषो वाऽतृशः" (सि० २–२–८४) षष्ठी। सपश्यस्वेति "समो गमृच्छिप्रच्छि०" (सि० ३–३–८४) इत्यात्मनेपदम्। अत्र वक्रोक्तिविषमविरोधश्लेषानुप्रासाः ॥ १२ ॥

अथ सत्यभामाऽऽह—

सत्या सत्यापितकृतकवाक्कोपमाचष्ट सख्यः!
साध्यः साम्नां न जलपृषतां तप्तसर्पिर्वदेषः ।
रुद्ध्वा तन्न स्वयमतिबलाच्चाशु वश्यं विधाय
स्वान्तं संविद्वदिममबलेत्यात्मदोषोऽद्य नोद्यः ॥१३॥

'सत्या' सत्यभामा सत्यापितः (सत्यः) कृत॰ कृतकः कृत्रिमो वाक्कोपो वचनकोपो यत्र एवं यथा भवति 'आचष्ट' आचख्यौ, हे सख्य.! 'एषः' देवरः 'साम्ना' सामवाक्यानां न साध्यः, सामवाक्यैः साधयितु वशीवर्तु न शक्य इत्यर्थः। किंवत्? 'तप्तसर्पिर्वत्' यथा तप्तसर्पिः 'जलपृषता' पयोबिन्दूना न साध्यम्। 'तत्' तस्मात्कारणात् 'एन (इम)' नेमिन रुद्ध्वा 'च' अन्यत् 'आशु' शीघ्रं अतिबलात् वश्य विधाय अद्य अबला इति आत्मनो दोष आत्मदोषः 'न नोद्यः' न स्फेटनीयः? अपि तु स्फेटनीय एव। किंवत्? 'संविद्वत्' यथा संवित् ज्ञानं 'स्वान्तं' चित्त रुद्ध्वा वश्य विधाय आत्मनो दोषं नोदयति, सर्वत्रापि स्त्री अबला कथ्यते, अथैनं बलिन वश्य कृत्वाऽय दोषो भेत्स्यते, अद्यप्रभृति महाकार्यसमर्थत्वात्कोऽपि आत्मनामबला इति न कथयिष्यति, एतावता हठेनापि एष वश्यः कार्य इति। सत्येति "ते लुग्वा" (सि० ३–२–१०८) इत्युत्तरपदभामाशब्दलोपः। सत्यः क्रियते स्म स-

त्यापितः "णिज् बहुल०" (सि० ३—४—४२) णिच्, "सत्यार्थवेदस्याः" (सि० ३—४—४४) आकारः । साम्नामित्यत्र "कृत्यस्य वा" (सि० २—२—८८) इति षष्ठी । अत्र दृष्टान्तार्थान्तरन्यासानुप्रासाः ॥ १३ ॥

सत्यभामयोद्धत वाक्यमुक्त ततः पद्मावती प्रशस्त वाक्यं प्राह—

पद्मावत्या तदनु जगदे नो मुदे देवरोऽसौ
नो कुत्राभूद्वद कुमुदिनीवत् कलाभृद्वयस्ये ! ।
अन्तर्धातुं प्रतिघमलिनाम्भोभृता तन्न युक्तं
पीयूषाब्धिं किमुत शिरसेशानवद्धर्तुमेतम् ॥ १४ ॥

'तदनु' ततोऽनन्तर पद्मावत्या 'जगदे' प्रोचे—हे 'वयस्ये !' सखि सत्यभामे ! 'वद' ब्रूहि असौ देवरो 'नः'अस्माक कुत्र 'मुदे' हर्षाय नोऽभूत् ? अपि तु सर्वत्राभूत् । किंवत् ? 'कुमुदिनीवत्' यथा कुमुदिनीना 'कलाभृत्' चन्द्रः कुत्र हर्षाय न भवेत् ? अपि तु सर्वत्रापि स्यात् । एषोऽपि कलाश्चातुर्यादिका बिभर्तीति कलाभृत् । 'तत्' तस्मात्कारणाद् एत 'प्रतिघमलिनाम्भोभृता' 'अन्तर्धातुम्' आच्छादयितु न युक्तम्, प्रतिघः कोप एव मलिनोऽम्भोभृत् मेघस्तेन, किमुत ईशानवत् शिरसा एत धर्तुं युक्तम् । किंविशिष्टमेतम् ? 'पीयूषस्य अब्धिं' अमृतस्य समुद्र, सौभाग्यादिगुणैरत्यर्थमानन्दहेतुत्वादमृतसमुद्रवदाप्यायकत्वात् पीयूषाब्धिरेव यथा गौरेवायमित्यादि, चन्द्रोऽपि पीयूषस्य अब्धिः अमृतभृतत्वात्, कोऽर्थः ? यथा चन्द्रो मलिनघनेनाऽऽच्छाद्यते तदयुक्तम्, यत् (च) ईश्वरेण शिरसि धार्यते तद्युक्तम्, तथा एषोऽपि भगवान् सकोपवाक्यैस्तिरस्क्रियते तदयुक्तं पर भक्त्या सत्क्रियते तद्युक्त, महान्तो हि भक्त्या ग्राह्या न तु शक्त्या । अत्रोपमानरूपकातिशयोक्त्यलङ्कारा ॥ १४ ॥

अथ गान्धारी प्राह—

गान्धारी चावगिति न परं ब्रह्मतो ब्रह्म जन्मा-
द्धृत्वैतासे ध्रुवमुपयतावप्यवाप्तासि तच्च ।
अस्तुङ्कारात् सुखय ननु नः पादयोः पत्यते ते
दास्यः स्मस्ते पटुचटुगिरा राज्यमप्याप्यमीश ! ॥ १५ ॥

'च' अन्यद् गान्धारी इति अवक्–हे देवर ! त्वं जन्मात् 'ब्रह्म' ब्रह्मचर्यं धृत्वा 'ब्रह्मतः' मोक्षात् परं 'न एतासे' न गन्तासि, 'उपयतावपि' पाणिग्रहणेऽपि 'ध्रुवं' निश्चितं 'तत्' ब्रह्म अवाप्तासि (प्राप्तासि), कोऽर्थः ? यदि यावज्जीवमपि ब्रह्मचर्यं धरसि तदापि मोक्षादूर्ध्वं न यास्यसि, यदि च परिणेष्यसि तदापि मोक्षं यास्यस्येव, अर्हतां मोक्षगतेर्निश्चितत्वात् । 'ननु' वितर्के, अस्तुङ्कारात् 'नः' अस्मान् 'सुखय' सुखभाजः कुरु, अस्तु भवतु अधिकारात् पाणिग्रहणमस्तु इति वचनकरणात् । 'ते' तव पादयोः पत्यते । वयं 'ते' तव दास्यः स्मः । हे ईश ! 'पटुचटुगिरा' स्पष्टचाटुवाण्या राज्यमपि 'आप्यं' प्राप्यम् । अस्तु इति त्यादिप्रतिरूपकमव्ययम्, ततः अस्तु करणं अस्तुङ्कारः "भावाकर्त्रोः" (सि० ५–३–१८) घञ्प्रत्ययः, "सत्यागदास्तोः कारे" (सि० ३–२–११२) मोऽन्तः । सुखय इति "सुख दुःखण् तत्क्रियायाम्" इति धातुः । अत्र काव्यलिङ्गोदात्तानुप्रासाः ॥ १५ ॥

अन्योऽन्यस्यां सरसरसना नेतुरुत्केतुरागा
मत्स्यण्डीयुक्त्रिकटुगुटिकाकल्पमित्युक्तवत्यः ।
प्रेमस्थेमक्षितितलमिलन्मौलिमाणिक्यमाला-
बालांशुश्रीशरणचरणाम्भोजयोः पेतुरेताः ॥ १६ ॥

'एताः' अन्तःपुर्यः 'नेतुः' स्वामिनः 'प्रेमस्थेमक्षितितलमिलन्मौलिमाणिक्यमालाबालांशुश्रीशरणचरणाम्भोजयोः पेतुः' प्रेम स्नेहः तस्य स्थेम्ना स्थैर्येण क्षितितले पृथ्वीतले मिलन् मौलिः मस्तकं तत्र या माणिक्यमाला तस्या या बालांशुश्रीः बालकिरणलक्ष्मीः तस्याः शरणे स्थाने ये चरणाम्भोजे चरणकमले तयोः पेतुः । किं

कुर्वत्यः? 'अन्योऽन्यस्या' परस्पर 'इति' अमुना प्रकारेण 'मत्स्यण्डीयुक्त्रिकटुगुटिकाकल्पमुक्तवत्य' मत्स्यण्डी खण्ड तेन (तया) युक् तन्मिश्रा या त्रिकटुगुटिका तत्कल्प तत्समान भाषितवत्य', कोऽर्थ ? यथा खण्डमिश्रास्त्रिकटुगुटिकाः किञ्चित्तिक्ताः किञ्चिन् मधुराश्च भवन्त्येव काचिदुद्धत काचिन्मधुर च वभाषे । किरूपा ? 'सरसरसनाः' सरसजिह्वाः, पुनः किविशिष्टाः ? उत्केतु. उत्पताक एतावताऽत्युत्कृष्टः रागो यासा ताः, एतावता सर्वा अपि पट्टदेव्यः स्वा स्वा युक्तिमुक्त्वा युगपत्प्रभो. पादयो. पेतुरित्यर्थः । अन्योऽन्यस्यामित्यत्र "परस्परान्योऽन्येतरेतरस्या स्यादेर्वा पुसि" (सि० ३-२-१) इत्यनेन अन्योऽन्यस्य शब्दस्याग्रे विभक्तेराम्, ईषदपरिसमाप्ता त्रिकटुगुटिका त्रिकटुगुटिकाकल्पम्, "अतमबादेरीषदसमाप्ते कल्पप् देश्यप् देशीयर्" (सि० ७-३-११) इति कल्पप्प्रत्ययः । अत्रातिशयोक्त्युपमोदात्तानुप्रासा. ॥ १६ ॥

सर्वानन्यानपि ननु सुखाकुर्वतः प्रीतितन्तु-
स्यूतस्वान्ताः प्रणयविनयाधानदैन्यं प्रपन्नाः ।
दुःखाकर्तुं तव समुचिता न प्रजावत्य एता
राजीविन्यो दिनकृत इवावोचदित्यच्युतोऽपि ॥ १७ ॥

'अच्युतोऽपि' नारायणोऽपि इति अवोचन्, इतीति किम्? हे बन्धो! तव एताः 'प्रजावत्यः' भ्रातृजाया 'दु खाकर्तुं' दु खयितुं न समुचिताः । कस्येव? 'दिनकृत (इव)' सूर्यस्येव, यथा दिनकृत. 'राजीविन्य.' कमलिन्यो दु.खाकर्तुं न समुचिताः । किरूपा एताः? 'प्रीतितन्तुस्यूतस्वान्ताः' प्रीतिरेव तन्तुस्तेन स्यूत स्वान्त मनो यासां ता', एतावताऽत्यन्तस्नेहला', पुनः किरूपाः? 'प्रणयविनयाधानदैन्य प्रपन्नाः' प्रणयः प्रेम विनयश्च तयोराधानेन न्यसनेन दैन्य दीनत्व प्रपन्ना. । कि कुर्वतस्तव? सर्वानन्यानपि 'सुखाकुर्वतः' सुखयतः, एतावता त्वमन्यान् सर्वानपि सुखयसि तत एता भ्रातृजाया दुःखयितु कथ युक्ता.? । सुखाकुर्वत इत्यत्र

"प्रियसुखादानुकूल्ये" (सि० ७–२–१४०) डाप्रत्ययः । दुःखा-कर्तुमित्यत्र "दुःखात्प्रातिकूल्ये" (सि० ७–२–१४१) डाप्रत्ययः । अत्रोपमानकाव्यलिङ्गानुप्रासाः ॥ १७ ॥

बाहौ धृत्वा प्रियमधुमुखा अप्यभाषन्त बन्धो !
सन्तः प्रायः परहितकृते नाद्रियन्ते स्वमर्थम् ।
प्रष्ठस्तेषामपि बत ! कुतोऽतद्विलोपेऽपि दत्से-
ऽनन्वग्भूय स्वजनमनसामेवमाभीलकीलाः ॥ १८ ॥

'प्रियमधुमुखा अपि' बलदेवमुख्या अपि अर्थात्त भगवन्तं बाहौ धृत्वाऽभाषन्त, लोके हि सबन्धी सदाक्षिण्यः स्मितपूर्वकाग्रहेण बाहौ धृत्वा असम्मतमपि वस्तु अङ्गीकारयत इति । हे बन्धो ! सन्तः प्रायः 'परहितकृते' अन्यहितार्थं 'स्वमर्थं' स्वकार्यं नाद्रियन्ते आत्मार्थं मुक्त्वा परहित कुर्वन्ति, बत इति खेदे, त्व 'तेषा' सता 'प्रष्ठोऽपि' मुख्योऽपि 'अतद्विलोपेऽपि' तस्य स्वार्थस्य विलोपो विनाशः तद्विलोप., न तद्विलोपोऽतद्विलोपस्तस्मिन् स्वार्थस्याविना-शेऽपि 'अनन्वग्भूय' प्रतिकूलो भूत्वा स्वजनमनसां 'एव' अमुना प्रकारेण 'आभीलकीलाः' कष्टज्वालाः कुतो हेतोर्दत्से ? कोऽर्थ ?, परोपकारपराणा साधूना मुख्यस्त्वम्, तवार्थो मोक्षलक्षणः पाणि-ग्रहणेऽपि न विनश्यन्नस्ति, एव सति त्व स्वजनमनसा पाणिग्रहणनि-षेधरूपाः कष्टज्वालाः कुतो ददासि ? । अन्वग्भवनं पूर्वं अन्वग्भूय, न अन्वग्भूय अनन्वग्भूय "आनुलोम्येऽन्वचा" (सि०५-४-८८) क्त्वाप्रत्ययः, "अनञः क्त्वो यप्" (सि० ३–२–१५४) । अत्राप्रस्तुतप्रशसाविरोधरूपकानि ॥ १८ ॥

तीर्थेष्वन्येष्वमितविमतिर्दृश्यते दर्शनानां
सर्वेषां तु स्फुरति पितरौ तीर्थमत्यन्तमान्यम् ।
तौ ताम्यन्तौ त्वदनुपयमान्मोदयस्वाद्य चेत्तत्
को दोषः स्यादितरवनिता अप्यवोचन्त चेति ॥ १९ ॥

'इतरवनिता अपि' अन्यनार्योऽपि 'च' अन्यत् इति अवोचन्त । इतीति किम् ? 'दर्शनाना' शैवसाङ्ख्यादिशासनानाम् अन्येषु तीर्थेषु 'अमितविमतिः' बहुविसवादो दृश्यते, सर्वेषु शासनेषु तीर्थविषयेऽपरिमितो विवादो दृश्यते, यथा माहेश्वराणा गङ्गागयादिक जैनाना श्रीशत्रुञ्जयरैवतादिकमित्यादि, 'तु' पुन. सर्वेषा दर्शनानां 'पितरौ' मातापितरौ अत्यन्तमान्य तीर्थं स्फुरति, सर्वेष्वपि दर्शनेषु मातापितरौ निर्विवाद तीर्थतया मन्येते, यतः—"असार्थप्रार्थन तीर्थमदेहद्रोहण तपः । अनम्भःसभव स्नान मातुश्चरणचर्चनम् ॥ १ ॥" अद्य चेत्तौ पितरौ 'मोदयसि' हर्षयसि, कि कुर्वन्तौ पितरौ ? 'त्वदनुपयमात्' तवापाणिग्रहणात् 'ताम्यन्तौ' खिद्यमानौ, तत् को दोषः स्यात् ? कोऽर्थः ? यौ पितरौ सर्वदर्शनमान्यौ तौ यदि विवाहस्वीकारान्मोदयसि तदा कोऽपि दोष. स्यात् ? । अत्रार्थान्तरन्यासविषमालङ्कारौ ॥ १९ ॥

ध्येयश्रेयः प्रणव इव यद्यद्विधेयोरसं यत्
    दुःसाधं चाभिदधति विदः प्राणितव्यव्ययेऽपि ।
ओमित्युक्त्याऽप्यखिलतनुमन्मोदनं तद्विधातुं
    किं कौसीद्यं विदुर तव तद्वर्तिनोऽन्येऽप्यवोचन् ॥ २० ॥

'तद्वर्तिन.' तत्स्थानस्थायिनोऽन्येऽपि लोका इति अवोचन्, इतीति किम् ? यत् 'अखिलतनुमन्मोदन' सकलप्राणिहर्षण 'प्रणव इव' ॐकार इव 'ध्येयश्रेयः' ध्येयेषु श्रेयः श्रेष्ठ यथा ध्येयेषु ॐकारः शस्यते, एव यदपि प्रतिदिन ध्यायते यद् 'विधेयोरस' विधेयेषु कर्तव्येषु उरसं प्रधान यत् 'विदः' विद्वास. 'प्राणितव्यव्ययेऽपि' जीवितव्यविनाशेऽपि 'दु·साध' साधयितुमशक्य 'अभिदधति' ब्रुवते, यदि प्राणितव्य व्यय्यते तथापि यत् कर्तुं न शक्यते, 'हे विदुर !' हे वृक्ष ! तव तद् अखिलतनुमन्मोदन ओमित्युक्त्यापि विधातु 'किं कौसीद्य' किमालस्यम्, ओम् अङ्गीकृत मया पाणिग्रहणम् इति वचनेनापि यदि सकलप्राणिनोऽपि हृष्यन्ति तदा तद्विषये किमालस्यं

क्रियते ? । विधेयेषु उरः प्रधान विधेयोरसम् "उरसोऽग्रे" (सि० ७–३–११४) अत्प्रत्ययः । दुःखेन कृच्छ्रेण साध्यते इति दुःसाध "दुःस्वीषतः कृच्छ्राकृच्छ्रार्थात् खल्" (सि०–५–३–१३९) खल्प्रत्ययः । अत्र परिकरातिशयोक्त्युदात्तानि ॥ २० ॥

नेताऽप्यन्तर्मनसमसकृन्मीलितोन्मीलिताक्षः
किञ्चिद्ध्यात्वा लसितदशनाभीशुकिञ्जल्ककान्तम् ।
दुःखादास्यं दरविकसिताम्भोजयन्नाबभाषे
माधुर्याधःकृतमधुसुधं सम्मतं वो विधास्ये ॥ २१ ॥

नेताऽपि 'माधुर्याध.कृतमधुसुध' यथा भवति आबभाषे, माधुर्येण अधःकृते मधुसुधे यत्र तत्, कि कृत्वा ? 'अन्तर्मनस' मनोऽन्तः किञ्चिद्ध्यात्वा, कि कुर्वन् ? दु.खात् 'आस्य' मुख 'दरविकसिताम्भोजयन्' दरविकसित ईषद्विकसित अम्भोज तदिव कुर्वन् । किरूपः ? 'असकृन्मीलितोन्मीलिताक्षः' असकृत् पुनः पुनः मीलिते सकुचिते उन्मीलिते उद्घाटिते अक्षिणी येन सः । किंरूपं आस्यम् ? 'लसितदशनाभीशुकिञ्जल्ककान्त' लसिता उल्लसिता दशनाना दन्ताना अभीशव किरणास्त एव किञ्जल्कः परागः तेन कान्तम् । किं बभाषे ? तदाह—अह 'वः' युष्माक 'सम्मत' इष्टं विधास्ये । अयमर्थः—यदा स्वामी कृष्णान्तःपुरीकृष्णबलदेवयदुवर्गेण भृश रुद्धो नाच्छुटत् तदा स्वामी चिरकाल नयनसकोचविकाशाभ्या ध्यान कृत्वा राजीमत्या अगोचर यदह पश्चादपि व्रतमादास्य इत्यादिक मनसि चिर चिन्तयित्वा गम्भीरार्थं वचन व्याजहार—यदह युष्माकं सम्मत विधास्ये परमार्थतः सम्मत व्रतमेव । मनसोऽन्तरन्तर्मनस "शरदादेः" (सि०७–३–९२) अत्प्रत्ययः समासान्तः । सम्मीलिते उन्मीलिते अक्षिणी येन सः "सक्थ्यक्ष्णः स्वाङ्गे" (सि० ७–३–१२६) अत्प्रत्ययः । दरविकसिताम्भोजमिव कुर्वन् "णिज् बहुल नाम्नः कृगादिषु" (सि०३–४–४२) । अत्र जातिरूपकातिशयोक्त्यनुप्रासाः ॥ २१ ॥

एतद्वर्णश्रवणमुदितः श्रीपतिः प्रोत्पताका-
दण्डैर्ह्लादादिव सपुलकां तत्पटान्तैः प्रनृत्ताम् ।
वर्णार्णोभिः सरणिनिहितैः क्लृप्तपीनाङ्गरागां
मुक्तालेख्यैः स्फुरितहसितां द्वारिकामभ्यगच्छत् ॥२२॥

'श्रीपतिः' कृष्णो द्वारकाम् अभ्यगच्छत् । अत्र द्वारकाया विशेषणरूपैः कृत्वा बलादपि कान्ताधर्मारोप आक्षिप्यते, अन्योऽपि यदा स्वामी स्वकान्तामभिगच्छति तदा सा शृङ्गारमुदारमारचयति, अतो विशेषणद्वारेण तद्भावमाह—किंरूपां द्वारकाम् ? 'प्रोत्पताकादण्डैः सपुलकां' प्रकृष्टा उत् ऊर्ध्वाः पताकानां केतूनां दण्डास्तैः सरोमाञ्चाम्, उत्प्रेक्ष्यते—'ह्लादादिव' हर्षादिव, 'तत्पटान्तैः' ध्वजपटाञ्चलैः 'प्रनृत्तां' कृतनृत्याम्, पुनः किंरूपाम् ? 'सरणिनिहितैः' मार्गन्यस्तैः 'वर्णार्णोभिः' कुङ्कुमाम्भोभिः 'क्लृप्तपीनाङ्गरागां' क्लृप्तो रचितः पीनोऽङ्गरागो यया सा ताम्, 'मुक्तालेख्यैः मौक्तिकचित्रैः 'स्फुरितहसितां' स्फुरितहास्याम् । किंरूपः श्रीपतिः ? 'एतद्वर्णश्रवणमुदितः' अहं युष्माकं सम्मतं विधास्ये एते वर्णा अक्षराणि तेषां श्रवणेन मुदितो हृष्टः । अत्रातिशयोक्तिसमासोक्त्यनुप्रासाः ॥२२॥

दुग्धं स्निग्धं समयतु सिता रोहिणी पार्वणेन्दुं
हैमी मुद्रा मणिमुरुघृणिं कल्पवल्ली सुमेरुम् ।
दुग्धाम्भोधिं त्रिदशतटिनीत्यादिभिः सामवाक्यैः
श्रीनेम्यर्थं झगिति च स मद्बीजिनं मां ययाचे ॥२३॥

हे जलधर ! 'सः' श्रीकृष्णः 'श्रीनेम्यर्थं' श्रीनेमिनाथकृते 'झगिति च' तत्कालमेव 'मद्बीजिनं' मत्पितरं मां ययाचे, 'च' अवधारणे, याचिधातुर्द्विकर्मकः, अतो द्वारिकापुरीमागत्य तत्कालमेव श्रीनेमिपाणिग्रहणाय मत्पितुः पार्श्वेऽहं श्रीकृष्णेन प्रार्थिता । कदाचित्प्राणेन प्रभुतया प्रार्थिता भविष्यतीत्येतदपोहायाह—कैः ? इत्यादिभिः सामवाक्यैः, इतीति किम् ? 'सिता' शर्करा स्निग्धं दुग्धं

'समयतु' मिलतु, रोहिणी 'पार्वणेन्दु' पार्वणचन्द्र समयतु, 'हैमी' सुवर्णसबन्धिनी मुद्रा मणि समयतु, किरूप मणिम् ? 'उरुघृणिं' गुरुकान्तिम् , कल्पवल्ली सुमेरुपर्वत समयतु, 'त्रिदशतटिनी' गङ्गा 'दुग्धाम्भोधि' समुद्र समयतु । यथैते योगा. श्लाघ्या. सन्ति तथा श्रीनेमिराजिमत्योरपि योगो भवतादित्यर्थ. । अत्राप्रस्तुतप्रशसासमुच्चयतुल्ययोगितासामान्यविशेषसमासोक्त्यनुप्रासा· ॥ २३ ॥

तद्बुद्ध्वान्तर्मुदमबिभृतां श्रीसमुद्रः शिवा च
प्रावृट्कालोदितमिव नवं त्वां सुराजा प्रजा च ।
तत्तत्कार्येष्वथ गणकतोऽवेत्य लग्नं विलग्नं
प्राप्तोद्वाहोद्वहमहमहःसंपदामक्रमेताम् ॥ २४ ॥

श्रीसमुद्रः शिवा च तत् 'बुद्ध्वा' ज्ञात्वा 'अन्तः' चित्ते 'मुदं' हर्षम् 'अबिभृता' अधरताम् , कमिव ? त्वामिव, यथा सुराजा प्रजा च 'प्रावृट्कालोदित' वर्षाकालोन्नत 'नव' नवीन त्वा बुद्ध्वा मुदं बिभृतः । 'अथ' अनन्तर श्रीसमुद्र· शिवा च 'तत्तत्कार्येषु' विवाहसबन्धिलोकप्रसिद्धकार्येषु 'अक्रमेता' उत्सहेते स्म, किं कृत्वा ? 'गणकत.' ज्योतिषिकान् लग्न 'अवेत्य' ज्ञात्वा, किरूप लग्नम् ? 'प्राप्तोद्वाहोद्वहमहमहःसपदा विलग्न' प्राप्त उद्वाहो विहावो येन एवविध उद्वहः पुत्रस्तस्य मह उत्सवस्तस्य या महःसपद. तेजोलक्ष्म्यः तासा विलग्न मध्यम् । एतावता एके उत्सवा लग्नात्पूर्वं भवन्ति अपरे उत्सवा लग्नसाधनादनु भवन्ति अतो लग्न मध्यम् । अक्रमेतामित्यत्र "क्रमोऽनुपसर्गात्" (सि० ३–३–४७) "वृत्तिसर्गतायने" (सि० ३–३–४८) सर्ग उत्साहस्तत्रार्थे आत्मनेपदम् । अत्रोपमानोदात्तानुप्रासा· ॥ २४ ॥

लग्नेऽभ्यासीभवति दिवसे दारकर्मण्यकर्मा-
ण्यारभ्यन्त प्रति यदुगृहं त्यक्तकृत्यान्तराणि ।
वासन्ताहे प्रतितरु यथा पल्लवानि प्रकामं
पुष्पोत्पाद्यान्यखिलगलितप्रत्नपत्रान्तराणि ॥ २५ ॥

'लाग्ने' लग्नसम्बन्धिनि दिवसे 'अभ्यासीभवति' आसन्ने जायमाने सति प्रति यदुगृह 'दारकर्मण्यकर्माणि' विवाहकर्मसाधूनि कार्याणि आरभ्यन्त । किंरूपाणि दारकर्मण्यकर्माणि ? 'त्यक्तकृत्यान्तराणि' त्यक्तानि कृत्यान्तराणि कार्यान्तराणि येभ्यः । अत्र दृष्टान्तमाह—यथा 'वासन्ताहे' वसन्तसबन्धिनि दिने 'प्रतितरु' वृक्ष वृक्ष प्रति 'प्रकाम' अत्यर्थं पल्लवानि आरभ्यन्ते, किंविशिष्टानि पल्लवानि ? 'पुष्पोत्पाद्यानि' पुष्पाणि उत्पाद्यानि उत्पादनीयानि येषा तानि, पल्लवानन्तर हि पुष्पाणि जायन्त इति, पुनः किंरूपाणि पल्लवानि ? 'अखिलगलितप्रत्नपत्रान्तराणि' अखिलानि समस्तानि गलितानि प्रत्नानि पुराणानि पत्रान्तराणि अन्यपत्राणि येषु तानि । अत्र दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरित्थं घटना—पल्लवस्थाने कर्माणि, विवाहस्थाने पुष्पम् , कृत्यान्तरस्थाने पत्रान्तराणि इति । लाग्ने इत्यत्र लग्नस्याय लाग्न. "तस्येदम्" (सि० ६–३–१६०) अण् प्रत्ययः, "वृद्धिः स्वरेष्वा०" (सि० ७–४–१) वृद्धिः । अनभ्यासोऽभ्यासो भवति अभूततद्भावे च्विः, "ईश्चाववर्णस्या०" (सि० ४–३–१११) ई । दारकर्मणि साधूनि "तत्र साधौ" (सि० ७–१–१५) । वसन्तस्येद वासन्तम् "तस्येदम्" (सि० ६–३–१६०) अण् , वृद्धि वासन्त च तत् अहश्च, "अह्नः" (सि० ७–३–११६) अट् प्रत्ययः, "नोऽपदस्य तद्धिते" (सि० ७–४–६१) अन्लोपः । प्रतितरु तरु तरु प्रति प्रतितरु "भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः" (सि०–२–२–३७) इति द्वितीयाकारके "विभक्तिसमीप०" (३–१–३९) इत्यव्ययीभावः । अत्रानुप्रासातिशयोक्तिदृष्टान्तानुप्रासाः ॥ २५ ॥

हृद्यातोद्यध्वनितरसितः केकिकण्ठाभिराम-
क्षौमोल्लोचोन्नतघनततिर्दर्पणोत्कम्पशम्पः ।
रत्नश्रेणीखचितनिचितस्वर्णमङ्गल्यदामो-
द्दीसेन्द्रास्त्रः स्वनुकृतपयोधारमुक्तावचूलः ॥ २६ ॥

पङ्काशङ्कास्पदमृगमदो वर्यवैडूर्यनद्ध-
क्षोणीखण्डोन्मुखरुचिरुहो मागधाधीतिकेकः ।
आसीत् पित्रा स्थपतिकृतिनाऽनेहसा सद्ग्रहेणे-
वाम्भोदर्तुः प्रगुणिततमो मण्डपश्चौपयामः ॥२७॥युग्मम्॥

'औपयाम' विवाहसबन्धी मण्डप आसीत् । किरूपो मण्डपः ? पित्रा प्रयोजकेन कर्त्रा 'स्थपतिकृतिना' स्थपतिषु सूत्रधारेषु कृती कुशलो यस्तेन गौणकर्त्रर्थे 'प्रगुणिततम' अत्यर्थ सज्जीकारित', क इव ? 'अम्भोदर्तु' मेघर्तुरिव यथाऽम्भोदर्तु. 'अनेहसा' कालेन प्रयोजककर्तृभूतेन 'सद्ग्रहेण' अनुकूलग्रहेण प्रयोज्यकर्तृरूपेण प्रगुण्यते सज्जीकार्यते । अथ वर्षर्तुसामग्रीयुक्तानि मण्डपविशेषणान्युच्यन्ते—पुनः किंविशिष्टः ? 'हृद्यातोद्य-ध्वनितरसित' हृद्याना मनोज्ञानाम् आतोद्याना वादित्राणा ध्वनित शब्दितमेव रसित गर्जितं यत्र सः, केकिना मयूराणा कण्ठस्तद्वद् अभिरामा एतावता श्यामाः क्षौमोल्लोचा दुकूलचन्द्रोद्योतास्त एवोन्नता घना मेघास्तेषा ततिः श्रेणिर्यत्र, दर्पणा आदर्शा एव उत्कम्पा' शम्पाः विद्युतो यस्मिन् उत् प्राबल्येन कम्पो यासा ता उत्कम्पा',रत्नश्रेणिभि खचित बद्ध निचित दृढ सुवर्णसम्बन्धि मङ्गल्यदाम तोरण तदेवोद्दीप्र भासुरमिन्द्रास्त्र इन्द्रधनुर्यत्र, सुष्ठु अत्यर्थमनुकृता अनुगताः पयोधारा जलधारा यैस्तानि मुक्तावचूलानि मौक्तिकझुम्बनकानि यत्र, मौक्तिकझुम्बनकानि जलधरा इत्यर्थः, पङ्कस्य कर्दमस्य आशङ्काया भ्रान्तेरास्पद स्थान मृगमदः कस्तूरी यत्र, सौगन्ध्यापादनाय न्यस्तानि कस्तूरीखण्डान्येव कर्दमभ्रान्तिकराणि । वर्यैर्वैडूर्यैर्नद्ध बद्ध क्षोणीखण्ड तस्योन्मुखा ऊर्ध्वमुखा रुचयः किरणान्येव रुहा अङ्कुरा यत्र, वर्षासु हि भूमावङ्कुरा उल्लसन्ति । मागधानामधीतिः मङ्गलशब्दच्छन्दोगीतकवित्वादिभणन सैव केका मयूरध्वनिर्यत्र सः । प्रगुण सज्जं क्रियते स्म "णिज् बहुल०" (सि० ३–४–४२) णिच्प्रत्ययः, "त्र्यन्त्यस्वरादेः" (सि० ७–४–४३) अन्त्यस्वरलोपः । प्रगुण्यते स्म

क्तः प्रत्ययः "स्ताद्यशितो०" (सि० ४-४-३२) इट् , "सेट्-क्तयो:" (सि० ४-३-८४) इति णिज्लोपः, प्रकृष्टं प्रगुणितः प्रगुणिततमः "प्रकृष्टे तमप्" (सि० ७-३-५) । औपयाम इति "यम् उपरमे" यम् उपपूर्व., उपयमनमुपयामः "समित्युपाद्यमः" (सि० ५-३-२५) इति अल्विकल्पात् "भावाकर्त्रोः" (सि० ५-३-१८) घञ् प्रत्ययः, वृद्धिः, उपयामस्याय औपयामः "तस्येदम्" (सि० ६-३-१६०) अण् प्रत्ययः, वृद्धिः । अत्रानुप्रासदृष्टान्तरूपकसमुच्चयपरिकराः ॥ २६–२७ ॥

आमोदेनानुपरततरोऽहर्दिवं यादवीनां
विष्वग्व्यापी पुरुरथ पुरेऽभूदुलूलध्वनिर्यत् ।
मन्ये धन्येतरनरकुलेष्वप्यनुत्साहधाम्नां
शोकानां तत्प्रतिहतिजुषां तन्ननाशावकाशः ॥ २८ ॥

'अथ' अनन्तरं 'पुरे' नगरे यत् 'यादवीनां' यदुस्त्रीणां 'पुरुः' प्रभूतः 'उलूलध्वनिः' धवलध्वनिरभूत् । किंरूपः उलूलध्वनिः ? 'आमोदेन' हर्षेण 'अहर्दिवं' दिने दिने 'अनुपरततरः' अत्यन्तमनिवृत्तः, हर्षेण यदुस्त्रियः कदाचिदपि धवलान् ददाना न निवर्तमानाः सन्ति इत्यर्थः । पुनः किंभूतः ? 'विष्वग्व्यापी' अतीव मधुरतारत्वात्समन्तात्प्रसरणशील इति । अहमेवं मन्ये 'तत्' तस्मात्कारणात् 'धन्येतरनरकुलेष्वपि' सशोककुलेष्वपि शोकानामवकाशो ननाश, किंरूपाणां शोकानाम् ? 'अनुत्साहधाम्नां' दैन्यस्थानकानाम्, पुनः कथं भूतानाम् ? 'तत्प्रतिहतिजुषां' तेन उलूलध्वनिना प्रतिहतिः निराकरणं तां जुषन्तीति तत्प्रतिहतिजुषाम्, एतावताऽधमकुलेष्वपि तदा हर्ष एवास्ति न शोक इत्यर्थः । अहर्दिवमिति अहश्च दिवा च अहर्दिवम् "ऋक्सामर्ग्यजुषधेन्वनडुहवाङ्मनस०" (सि० ७-३-९७) इत्यादिना समासान्तः अत्प्रत्ययः, अहर्दिवेति निपातः, पश्चात् "कालाध्वनोर्व्याप्तौ" (सि०२-२-४२) इति द्वितीया-अम् । अत्रातिशयोक्तिरनुमानमनुप्रासश्च । तत्रानु-

मानम्——एतन्नगरकुलानि सर्वाणि शोकरहितानि, उल्लूलध्वनिव्या-प्तत्वात् , जायमानविवाहादिमङ्गलगृहवत् ॥ २८ ॥

भूभृत्प्रेक्ष्या अपि वरवधूतातयोः प्रीतिभाजोः
सौधेष्वन्धङ्करणतिमिरारातिरत्नाजिरेषु ।
सीत्यस्यात्यादरभरमिलत्पौरसद्गौरवार्थं
पुञ्जा व्रीहिप्रथनसुमनाढ्यस्य चापीपचन्त ॥ २९ ॥

वरवधूतातयोः सौधेषु अत्यादरभरमिलत्पौरसद्गौरवार्थं 'भूभृत्प्रे-क्ष्या अपि' पर्वतवद्दर्शनीया अपि 'व्रीहिप्रथनसुमनाढ्यस्य' 'सी-त्यस्य' धान्यस्य पुञ्जा अपीपचन्त प्रथना मुद्गाः सुमना गोधूमा आढ्या यत्र तत् व्रीहिप्रथनसुमनाढ्य तस्य । अपीपचन्तेति जनाः पुञ्जान् पचन्ति, तान् पचतः पितरौ प्रयुञ्जाते । द्वितीयोक्तौ पि-तरौ जनैः पुञ्जान् पाचयत., तावेव विवक्षेते——नावा पुञ्जान् पाचयावः किन्तु पुञ्जा एव योग्यतया सुपरिकर्मिततया पाचने जनान् स्वयमेव प्रायुञ्जन् इति। तृतीयोक्तौ कर्मकर्तरि पुञ्जाः स्वय-मेवापीपचन्तेत्यर्थः, अत्र "एकधातौ कर्मक्रिययैकाकर्मक्रिये" (सि० ३-४-८६) इति सूत्रेणात्मनेपदम् । "भूषार्थसन्किरादिभ्यश्च ञिक्यौ" (सि० ३-४-९३) अनेन सूत्रेण एकधाताविति सूत्र-बलात्प्राप्तस्य "स्वरग्रहदृश०" (सि० ३-४-६९) इत्यादिना सूत्रेणाऽऽगतस्य ञिट्प्रत्ययस्य निषेधः, ततो "णिश्रिद्रुस्रुकमः कर्तरि ङः" (सि० ३-४-५८) इति ङः, ततो द्विर्वचनादिना सिद्धं रूपम् । धान्यपुञ्ज आपहूणी पचवाणो इति लोकप्रसिद्धोऽर्थः । किंरूपयोस्तातयो ? प्रीतिभाजोः । किंविशिष्टेषु सौधेषु ? 'अन्धङ्क-रण०' अनन्धोऽन्धः क्रियते यैस्तानि अन्धङ्करणानि "कृग. खनट् करणे" (सि० ५-१-१२९) इति खनट् प्रत्यय., एवंविधानि यानि तिमिराणि तेषामरातयः शत्रवो यानि रत्नानि तेषामजिराणि अङ्गणानि येषु । अत्र तातयोरिति द्विवचनेऽपि सौधेष्विति बहुत्व-

मेकैकस्य बहुषु आवासेषु अतिविस्तीर्णरत्नाङ्गणेषु अन्नराशयः पर्वत-प्रायाः पक्का इति ज्ञापनार्थम् । अत्रोदात्तजात्यनुप्रासाद्याः ॥ २९ ॥

खाद्यस्वाद्याभरणसिचयाद्यर्चया बन्धुवर्गो
नानादेशागतनरपतीनेकतः सच्चकार ।
वर्णोद्वर्णस्नपनवसनालेपनापीडपुण्ड्रा-
ऽलङ्कारैस्तं प्रभुमपि च मामन्यतोऽलञ्चकार ॥ ३० ॥

बन्धुवर्गः 'एकतः' एकस्मिन् पार्श्वे 'खाद्यस्वाद्याभरणसिचयाद्य-र्चया नानादेशागतनरपतीन् सच्चकार' सत्करोति स्म, खाद्यानि मोदकादीनि, स्वाद्यानि लवङ्गैलापत्रपूगादीनि, आभरणानि मुक्ता-दीनि, सिचयाः चीनांशुकाद्याः, आदिग्रहणात् पुष्पादिपरिग्रहः तैः कृत्वाऽर्चया—पूजया । 'अन्यतः' अन्यस्मिन् पार्श्वे 'वर्णोद्वर्णस्नपन-वसनालेपनापीडपुण्ड्रालङ्कारैस्त प्रभु मामपि चालञ्चकार' वानाऊ-वना इति लोके रूढौ वर्णोद्वर्णौ, स्नपन स्नानविधापनम्, वसनानि वस्त्राणि, आलेपन चन्दनचर्चनम्, आपीडो मुकुटः, पुण्ड्र तिलकम्, अलङ्कारा. केयूरहारमुद्रादिकाः । एकस्मिन् पार्श्वे एकतः, अन्यस्मिन् पार्श्वे अन्यतः "आद्यादिभ्यः" (सि० ७–२–८४) तस् प्रत्यय । अत्र बन्धुवर्गस्य राजसमूहसत्कारवरवधूशृङ्गारवैयग्र्येण विवाहस्य गौरव प्रतिपादितम् । अत्रातिशयोक्तिदीपकानुप्रासाः ॥ ३० ॥

रोदोरन्ध्रे सुरनरवराहूतिहेतोरिवोच्चै-
रातोद्यौघध्वनिभिरभितः पूरिते भूरितेजाः ।
अध्यारोहन्मदकलमिभं विश्वभर्तौपवाह्यं
गत्यैवाधःकृतिमतितरां प्रापिपत् पौनरुक्त्यम् ॥ ३१ ॥

('भूरितेजाः' प्रभूतदीप्तिमान्) 'विश्वभर्ता' श्रीनेमिनाथ औ-पवाह्य इभ अध्यारोहन् सन् 'अतितराम्' अत्यर्थं पौनरुक्त्यं 'प्रा-पिपत्' प्रापितवान्, राजा यस्योपरि चटति स पट्टगजेन्द्र औपवाह्यः कथ्यते यतः—"राजवाह्यस्तूपवाह्यः" (अभिधान० ४–२८८) इति वचनात् । किंविशिष्टम्? मदकल स्पष्टम्, पुनः कथभूतम्?

गत्यैवाध.कृतम् , कोऽर्थः ? अग्रेऽपि भगवता गजो गत्याऽधःकृतः गजपतेरप्यधिकलीलागतित्वात् , पुनरपि त गजेन्द्रमारोहणेनाध.- कुर्वन् अत्यर्थं पौनरुक्तय प्रापितवानित्यर्थः । क सति ? 'आतोद्यौघ-ध्वनिभिः' वादित्रसमूहनादै, 'उच्चैः' अतिशयनो रोदोरन्ध्रे 'अभित·' समन्तात् पूरिते सति रोदस्शब्देनाकाशपृथिव्यौ कथ्येते तयो-रन्तराले विवरे । किमर्थम् ? उत्प्रेक्ष्यते—'सुरनरवराहूतिहेतोरिव' आकाशे सुरा भुवि नरवरास्तेषामाहूतिः आकारण तस्य हेतोरिव, ते ध्वनयो रोदोरन्ध्र स्वभावान्न पूरयन्तः सन्ति किन्तु सुरनरव-राणामाकारणार्थमिति, विवाहे हि सर्वेषा शिष्टानामाकारण क्रि-यत इति । प्रापिपदिति "आप्लृट् व्याप्तौ" आप् प्रपूर्वः, प्राप्नुवन्त प्रायुङ्क्त णिग् , अद्यतनी-दिप्रत्यय· "णिश्रिद्रुस्रुकम कर्तरिङः" (सि० ३–४–५८) ङप्रत्यय·, "स्वरादेर्द्वितीय " (सि० ४–१–४) इति पिद्विर्वचनम्, "णेरनिटि" (सि० ४–३–८३) णिग्लोपः । अत्रोत्प्रेक्षापर्यायोक्त्यतिशयानुप्रासाः ॥ ३१ ॥

सर्वैः प्राप्तेऽप्यधिकमुचिते साधु संभावितो यत्
पूर्वो भागो भुवनविभुना स्कन्धमध्यास्य नेयम् ।
अद्याप्येनं ननु गजपतेः प्राभवं विप्रकार
स्मार स्मार भजति कृशतां साऽपरा खिद्यमाना ॥ ३२ ॥

सा 'गजपते·' गजेन्द्रस्य अपरा खिद्यमाना सती कृशता भजति, अपराशब्देन गजस्य पश्चिमो भागः कथ्यते, स स्वभा-वेन तलिनो भवति, तत्र कविरुत्प्रेक्षामाह—नन्विति उत्प्रेक्ष्यते— 'अद्यापि' अद्य यावत् एन 'प्राभव' प्रभोः श्रीनेमिनाथस्य सम्ब-न्धिन 'विप्रकार' पराभव 'स्मार स्मार' आभीक्ष्ण्येन स्मृत्वा, एन कम् ? यत् 'भुवनविभुना' विश्वस्वामिना श्रीनेमिनाथेन 'स्कन्धम-ध्यास्य' गजेन्द्रस्य स्कन्धमारुह्य पूर्वो भागः 'साधु' भव्य यथा भ-वति 'सम्भावित·' सम्मानितः, 'इय' अपरा न सम्भाविता, क सति ? पाणिग्रहणोत्सवे 'सर्वै.' इति सामान्योक्त्या सम्बन्धिबन्धु-

मित्रपरिजनप्रकृतिजनैः 'उचिते' योग्ये अधिकमपि प्राप्ते सति, अयमर्थः—पाणिग्रहणप्रस्तावे सर्वस्यापि मारा क्रियते, यस्य यत् आभरणपट्टदुकूलशृङ्गारादि उचित स्यात्तद्दीयते तदा प्रभोः परिणयावसरे सर्वैर्योग्यादधिकमपि शृङ्गारादिक प्राप्तम्, गजेन्द्रस्यारोहणे पूर्वभागः कुम्भस्थलादिकः सम्मुखतया सम्भाव्यते स्म पश्चिमभागस्तु पृष्टोऽपि न, अतोऽद्य यावद् गजेन्द्रस्य पूर्वभागः प्रभुणा पाणिग्रहणोत्सवे सम्भावितत्वात्तुष्ट इवोन्नतोऽभूत्, पश्चिमभागस्तु तदा न सम्भावित इति पराभवस्मरणादिव अद्य यावत् कृशो भवतीति। आभीक्ष्ण्येन स्मरण पूर्वं स्मार स्मारम्, प्राकाले "ख्णम् चाभीक्ष्ण्ये" (सि० ५–४–४८) इति णम्। अत्रोत्प्रेक्षापह्नुत्यनुप्रासाः ॥ ३२ ॥

शीतज्योतिः ससकलकलः पुण्डरीकापदेशात्
गावो वालव्यजननिभतश्चन्द्रिका चेलदम्भात् ।
तारा मुक्तामणिगणमिषान्निर्निमेषं पिबद्भि-
र्देवं सेवास्थित इति तदाऽतर्कि नैशः प्रदेशः ॥ ३३ ॥

'तदा' तस्मिन् प्रस्तावे जनैः 'नैश प्रदेश' रात्रिसम्बन्धी प्रदेशः 'इति' अमुना प्रकारेण 'सेवास्थितः अतर्कि' विचारित· सेवार्थे(या) स्थितः सेवास्थितः, अधिकारात्प्रभोरित्यर्थः। किंविशिष्टैर्जनैः ? 'देव' श्रीनेमिनाथ 'निर्निमेष' निमेषरहितं यथा भवति 'पिबद्भिः' अत्यादरेण दर्शन पानमुच्यतेऽतः पश्यद्भिरित्यर्थ·। इतीति किम् ? 'पुण्डरीकापदेशात् शीतज्योतिः' चन्द्र· पुण्डरीक छत्र तस्यापदेशात् मिषात्, किंविशिष्टः शीतज्योतिः? 'ससकलकलः' सकलाभिः कलाभिः सह वर्तत इति ससकलकलः, 'वालव्यजननिभतो गावः' वालव्यजनानि चामराणि तेषा निभतः कपटात् गावः किरणानि, 'चेलदम्भात्' अत्युज्ज्वलविभ्राजमानवस्त्रदम्भात् 'चन्द्रिका' चन्द्रज्योत्स्ना, 'मुक्तामणिगणमिषात् तारा' छत्रे आभरणेषु व्यक्ता मौक्तिकपङ्क्तयः ताराः, एवं चन्द्रचन्द्रकिरणचन्द्रज्योत्स्नातारकाभिः कृत्वा

रात्रिसम्बन्धी प्रदेशः किं दिवाऽपि स्वामिनं सेवितुमागतः ? इति । निशाया अयं नैशः "निशाप्रदोषात्" (सि० ६–३–८३)इत्यण् । अत्रापह्नुत्यतिशयोक्त्यनुप्रासाः ॥ ३३ ॥

अग्रेऽभूवन् करिहरिरथारूढवृष्णिप्रवीरा
नानायानाधिगतगतयो वीरपत्न्यश्च पश्चात् ।
उत्कोशासिप्रहरणभृतः पत्तयः पार्श्वदेशे
प्रत्यावृत्तेः प्रकृतिविरतस्यास्य भीत्येव मार्गात् ॥ ३४ ॥

'करिहरिरथारूढवृष्णिप्रवीराः' अग्रेऽभूवन् करिणो गजाः, हरयः तुरङ्गाः, रथाः प्रसिद्धाः, तानारूढा वृष्णयो यादवास्तेषां प्रवीराः प्रकृष्टवीराः, 'च' अन्यत् वीरपत्न्यः पश्चादभूवन्, किंरूपाः ? 'नानायानाधिगतगतयः' नानायानैः रथसुखासनादिभिः कृत्वाऽधिगता प्राप्ता गतिर्याभिस्ताः, 'पत्तयः' पदातिकाः पार्श्वदेशेऽभूवन्, कथम्भूताः ? 'उत्कोशासिप्रहरणभृतः' कोशः खड्गपिधानकं कोशादुत्क्रान्तानि पिधानवर्जितानि उत्कोशानि असिप्रहरणानि खड्गायुधानि बिभ्रतीति उत्कोशासिप्रहरणभृतः । उत्प्रेक्ष्यते—अस्य मार्गात् प्रत्यावृत्तिः पश्चाद्वलनं तस्याः 'भीत्या' भयेनेव, किंविशिष्टस्यास्य ? 'प्रकृतिविरतस्य' स्वभावेन विरक्तस्य, अयमर्थः—अयं भगवान् स्वभावाद्विरक्तो रक्षेद्वलित्वा यातीति सर्वतो जनैर्वेष्टितः । अत्रोत्प्रेक्षानुप्रासातिशयोक्तयः ॥ ३४ ॥

मामुद्वोढुं स्थितिमुपयतः पत्युराद्योतनोच्चै-
रातोद्यौघध्वनिनिशमनादेव वाजं भजद्भिः ।
पौरैर्गौराननरुचिभरैर्हूतिकर्मान्तरेणै-
तव्यं नैवाप्यधिकरुचिकैरित्युपादिश्यतेव ॥ ३५ ॥

उत्प्रेक्ष्यते—'पौरैः' नागरैः इति परस्परं 'उपादिश्यतेव' अकथ्यत इव, इतीति किम् ? अस्माभिरधिकरुचिकैरपि 'हूतिकर्मान्तरेण' आकारणकर्म विना नैव 'एतव्यं' गन्तव्यम्, अधिका रुचिः इच्छा येषां तेऽधिकरुचिकाः तैः, पुनः कथम्भूतैः ? 'गौराननरुचिभरैः'

गौर उज्ज्वल आननस्य मुखस्य रुचिभरः श्रीभरो येषा ते गौराननरुचिभराः तैः, यथाऽन्यत्रापि विवाहादौ बाढमभिलाष-युक्तैरपि आकारण विना न गम्यते। पुनः किंविशिष्टैः? आतोद्यौ-घध्वनिनिशमनादेव 'वाज' वेग भजद्भिः, आतोद्याना वादित्राणा-मोघः समूह तस्य ध्वनेः शब्दस्य निशमनम् आकर्णन तस्मात्, (पुनः) किंविशिष्टैः? 'पत्युः' स्वामिन आद्योतन दर्शन तस्योत्का उत्कण्ठितास्तैरपि। किंविशिष्टस्य पत्युः? मा 'उद्वोढु' परिणेतुं 'सृतिं' मार्गं 'उपयतः' आगच्छतः, कोऽर्थः? लोकाः पतिं द्रष्टु प्रकाम-मुत्कण्ठिता अपि वादित्राणि श्रुत्वैव वेगेन चलिताः, न त्वन्यथा। यद्वादित्रश्रवण तदेव हूतिकर्म आकारण जातमित्यर्थः। अत्रोत्प्रे-क्षाहेत्वनुप्रासाः ॥ ३५ ॥

यावन्नान्दीरवमश्रृणवं स्नातभुक्तानुलिप्ता
क्लृप्ताकल्पा स्तनितमिव ते केकिनी प्रोच्चकर्णम्।
तावद्भ्रातर्विधुमिव विभुं तं चकोरी दिदृक्षु-
श्चक्षुःक्षेपं सुमशरशराभ्याहतेवाकुलाऽऽसम् ॥ ३६ ॥

हे जलधर! अह यावत् 'नान्दीरव' द्वादशविधमङ्गलतूर्यनिर्घोषो नान्दीत्युच्यते तस्या रव शब्द प्रोच्चकर्ण यथा भवति प्रकर्षेण उच्चैः कर्णौ यत्र श्रवणे तत् 'अश्रृणव' श्रृणोमि स्म, किंविशिष्टाऽहम्? 'स्नातभुक्तानुलिप्ता' पूर्वं स्नाता पश्चाद्भुक्ता ततोऽनुलिप्ता कृतविले-पना, पुनः किंरूपा? 'क्लृप्ताकल्पा' क्लृप्तो रचित आकल्पः पाणि-ग्रहणयोग्यवेषो यया सा। केव? 'केकिनीव' यथा केकिनी प्रोच्च-कर्णं यथा भवति 'ते' तव 'स्तनित' गर्जित श्रृणोति, हे भ्रातः! तावदह त विभु 'दिदृक्षुः' द्रष्टुमिच्छती 'चक्षुःक्षेप' चक्षुः क्षिप्त्वा आकुलाऽऽसम्। उत्प्रेक्ष्यते—'सुमशरशराभ्याहता इव' सुमशरः कामस्तस्य शरैः बाणैरभ्याहता पीडिता इव, केव? चकोरीव, यथा चकोरी विधु दिदृक्षतेऽतो नान्दीरव श्रुत्वा त द्रष्टुमाकुला जातेत्यर्थः।

चक्षु.क्षेपण पूर्व चक्षु.क्षेपम् "स्वाङ्गेनाध्रुवेण" (सि० ५–४–७९) इति णम्प्रत्ययः । अत्रोत्प्रेक्षोपमानुप्रासा. ॥ ३६ ॥

पेञ्जूषेषु स्वविषयसुखं भेजिवत्सूत्सुकाया-
मायान्त्यस्मै सखि! सुखयितुं किं न चक्षूंषि युक्तम्?।
इत्यालीनां सुबहु वचनं मन्यमाना विमानं
मत्तालम्बं तदनुचरिताऽशिश्रियं देवतेव ॥ ३७ ॥

अहं 'तदनुचरिता' तासां सखीनामनुचरिता अनुगामिनी सती 'मत्तालम्ब' गवाक्षम् अशिश्रियम्, किं कुर्वाणा? इति 'आलीना' सखीना वचन 'सुबहु' सुष्ठु अतिशयेन बहु घन मन्यमाना । इतीति किम्? हे सखि! 'चक्षूषि' नेत्राणि 'सुखयितु' सुख प्रापयितु किं न युक्तम्? अपि तु युक्तम्, अत्र पेञ्जूषेषु चक्षूषि इत्यत्र बहुवचन सखीबहुत्वापेक्षम्, किंविशिष्टानि चक्षूषि? 'अस्मै' स्वविषयसुखाय दर्शनलक्षणाय उत्सुकाया 'आयान्ति' प्राप्नुवन्ति, अनुत्सुक उत्सुको भवति "च्व्यर्थे भृशादे स्तो" (सि० ३–४–२९) क्यङ्प्रत्यय, "दीर्घश्च्वीयङ्यक्क्येषु०" (सि० ४–३–१०८) दीर्घः आ, उत्सुकायनं उत्सुकाया "शसिप्रत्ययात्" (सि० ५–३–१०५) अङ्प्रत्यय, "आत्" (सि० २–४–१८) आप्रत्यय, अत उत्सुकायाम् औत्सुक्यमित्यर्थः । केषु सत्सु? 'पेञ्जूषेषु' कर्णेषु 'स्वविषयसुख' स्वम् आत्मीय विषयसुखं श्रवणसुख 'भेजिवत्सु' प्राप्तेषु सत्सु । अन्यत्रापि पङ्क्तावुपविष्टायामेकेषु मिष्टान्न स्वादयत्सु अन्ये बुभुक्षिता मिष्टान्नभोजनाय व्याकुला भवन्ति, एव चक्षुषी कर्णौ च पङ्क्तावुपविष्टौ स्तः, तेषु वादित्रादिमधुरध्वनिश्रवणरूपस्वविषयसुखभोगात् कर्णेषु तुष्टेषु चक्षूंषि भगवद्दर्शनरूपस्वविषयसुख भोक्तुमत्याकुलानि जातानीत्यर्थः । केव? 'देवतेव' यथा देवता विमान श्रयति । अत्र हेत्वनुप्रासोपमाः ॥ ३७ ॥

श्रेयःसारागमसुपयमाद्यङ्गमग्र्यासनस्थं
नासान्यस्तस्तिमितनयनं पुण्यनेपथ्ययोगम् ।

शुक्लध्यानोपगतमिव सच्चन्दनस्याङ्गरागै-
स्तत्राद्राक्षं जगदिनमहं भोगिनं योगिनं वा ॥ ३८ ॥

हे मेघ! अहं तत्र 'जगदिन' जगत्स्वामिन 'अद्राक्षं' पश्यामि स्म, किंविशिष्टम्? योगिन 'वा' अथवा भोगिनम्, अलक्ष्यत्वा-दुभयावस्थे अपि भजन्तमिवेत्यर्थः । किंविशिष्ट जगदिनम्? 'श्रेयः-सारागम' पूर्वं भोगिपक्ष.—श्रेयोभि. कल्याणै सारः प्रधानः आगम आगमन यस्य, पुन॰ कथभूतम्? 'उपयमाद्यङ्ग' उपयमं पाणि-ग्रहणम् इत्यादीनि अङ्गानि भोगप्रकारा यस्य स तम्, अग्र्ये प्रधाने गजेन्द्ररूपे आसने तिष्ठतीति अग्र्यासनस्थम्, नासा नासिका तस्या न्यस्ते स्तिमिते निश्चले नयने यस्य स तम्, पुण्यः पवित्रो नेप-थ्यस्य वेषस्य योगो यस्य । योगिपक्षे—श्रेयो मोक्षस्तदेव सार यस्य ईदृग् आगम सिद्धान्तो यस्य, पुनः किंरूपम्? 'उपयमाद्यङ्ग' उप समीपे यमादीनि अष्टौ अङ्गानि यस्य, यम १ नियम २ आसन ३ प्राणायाम ४ प्रत्याहार ५ ध्यान ६ धारणा ७ समाधि ८ रूपाणि अष्टौ योगाङ्गानि, अग्र्ये आसने पद्मासनादौ तिष्ठतीति । 'नासा-न्यस्तस्तिमितनयन' स्पष्टम् । पुण्य धर्म एव नेपथ्यस्य वेषस्य योगो यस्य । अथोत्प्रेक्षया द्वयोरपि साम्यमाह—सच्चन्दनस्य 'अङ्गरागैः' विलेपनैः शुक्लध्यानोपगतमिव, उपगतः सयुक्तः, चन्दनमेव शुक्ल-ध्यानमित्यर्थः । अत्र श्लेषोत्प्रेक्षाऽनुप्रासा॰ ॥ ३८ ॥

मोहोदन्वान्मम निशमनं तस्य जैवातृकस्य
व्यातन्वत्याः कथमपि तथा तत्र चैधिष्ट पुष्टः ।
कोऽयं काऽहं क्व किमु विदधामीति तद्वीचिमाला-
लोलच्चेताः क्षणमवजगे नो यथा जाड्यमाशा ॥ ३९ ॥

मम 'तत्र' गवाक्षे तस्य 'निशमन' विलोकन 'व्यातन्वत्या.' कु-र्वत्याः 'मोहोदन्वान्' मोहसमुद्र. पुष्ट. (कथमपि) तथा 'ऐधिष्ट' अवर्धिष्ट, किंविशिष्टस्य तस्य? 'जैवातृकस्य' दीर्घायुषः, अन्यस्यापि

'जैवातृकस्य' चन्द्रस्य दर्शनेन समुद्रो वर्धते, यथाऽहं क्षणम् इति 'न अवजगे' न ज्ञानवती, किंरूपा ? 'जाड्य' जडभाव 'आप्ता' प्राप्ता, पुनः कथभूता ? 'तद्वीचिमालालोलच्चेताः' तस्य मोहसमुद्रस्य वीचिमालाभिः कल्लोलमालाभि· लोलत् चञ्चल इवाचरन् चेतः चित्त यस्याः सा, इतीति किम् ? अय कः अह का ? अह क किमु 'विदधामि' करोमि, अतो मम मोहसमुद्रकल्लोलचञ्चलीक्रियमाणचित्तायाः सर्व विस्मृतमित्यर्थः । "गाङ् गतौ" अवपूर्वस्य परोक्षायाम् एप्रत्यये 'अवजगे'–रूपम् । अत्रानुप्रासश्लेषरूपकातिशयोक्तयः ॥ ३९ ॥

क्वायं देवस्त्रिभुवनपतिर्मर्त्यकीटः क चैषा
यद्यप्यार्षीन्निलयवलजं नो तथापि प्रतीये ।
इत्यूहे मे स्फुरदपि तदा लोचनं भानवीयं
भाग्याभावेऽमुकुलयदहो ! कामराजीवराजीः ॥ ४० ॥

हे मेघ ! 'मे' मम तदा भानवीयमपि लोचन स्फुरत् भाग्याभावे सति 'अहो' इति आश्चर्ये 'कामराजीवराजीः' कामा मनोरथास्त एव राजीवानि कमलानि तेषा राजी श्रेणी· 'अमुकुलयत्' सङ्कोचयामास, भानवीयशब्देन दक्षिण लोचन कथ्यते, ततः स्त्रीणा दक्षिणलोचनस्फुरणमशुभहेतु । अथ यद्भानोः श्रीसूर्यस्य सबन्धि लोचन तत् कमलश्रेणी· कथ सङ्कोचयतीति विरोधः । क सति ? इति 'ऊहे' विचारे सति, इतीति किम् ? अय त्रिभुवनपतिर्देवः क ?, 'च' अन्यत् 'एषा' अह 'मर्त्यकीटः क' मर्त्येषु मनुष्येषु अप्रसिद्धतया कीटकल्पेत्यर्थ· । यद्यप्येष, 'निलयवलज' निलयस्य आवासस्य वलज द्वारम् 'आर्षीत्' आगच्छत् तथापि 'नो प्रतीये' न प्रतीतिं प्राप्नोमि यदस्य पाणिग्रहण मम भविष्यतीति विश्वासो न । प्रतीये इत्यत्र "ईङ्च् गतौ" धातोर्वर्तमाना–एप्रत्यये "दिवादेः श्य·" (सि० ३–४–७२) इति श्यप्रत्यये रूपम् । मुकुला इवाकरोत् अमुकुलयत् "णिज् बहुल नाम्न कृगादिषु" (सि०

३–४–४२) णिच्प्रत्ययः, ह्यस्तनी–दिव्प्रत्यये रूपम् । मर्त्यकीट इति रूपकत्वान्न लिङ्गव्यत्ययः । अत्र विषमविरोधानुप्रासाः ॥४०॥

शान्तं पापं! क्षिपसि ससिते क्षीरपूरेऽक्षखण्डान्
मङ्गल्यानामवसर इहामङ्गलं ते खलूक्त्वा ।
मामुद्वेगं सपदि दधतीमित्यवोचन् वयस्या
यावत्तावत्करुणमशृणोदेष रावं पशूनाम् ॥ ४१ ॥

हे मेघ! यावत् 'वयस्याः' सख्यो मामिति 'अवोचन्' अजल्पन् । किंरूपा माम्? 'सपदि' तत्काल 'उद्वेगम्' उच्चाट दधतीम् । इतीति किम्? हे सखि! 'पाप' दुरित शान्तम्, त्व 'ससिते' सितया शर्करया सहिते 'क्षीरपूरे' दुग्धपूरे 'अक्षखण्डान्' अक्षस्य विभीतकस्य खण्डान् शकलान् क्षिपसि, अय मङ्गल्याना 'अवसरः' प्रस्तावः, 'ते' तव 'इह' प्रस्तावे 'अमङ्गल' दुर्निमित्तसूचकम् उक्त्वा 'खलु' पूर्यते, एतावताऽस्मिन्नवसरे सविषाद वचो न वाच्यमिति भावः । तावत् 'एष.' भगवान् 'पशूना' तिरश्चा 'करुण' दीनं 'राव' शब्दमशृणोत् । ते खलूक्त्वा अत्र "निषेधेऽलखल्वो. क्त्वा" (सि० ५–४–४४) क्त्वाप्रत्ययः । अत्र विषमानुप्रासौ । यावत्सख्यो मधुरवचनैरुद्वेग स्फेटयन्ति तावद्भविष्यन्महोद्वेगकारणमेव भगवता पशूना करुणरावोऽश्रावीति "कर्तुः क्रियाफलावाप्ति–र्नैवानर्थश्च यद्भवेत् ।" इति विषमविशेष, पूर्वार्धेऽपि विषमः ॥ ४१ ॥

हेतुं तेषामवजिगमिषुः क्रन्दने सादिनाऽथो
नाथो नत्वा मुकुलितकरेणेति विज्ञप्यते स्म ।
एषां कीनैरिव जलनिधिर्नाथ! नादेयवाहैः
शूल्यैः शोभातिशयमयिता गौरवस्ते विवाहे ॥ ४२ ॥

'अथो' अनन्तर 'सादिना' हस्तिपकेन नत्वा 'नाथः' स्वामी इति विज्ञप्यते स्म, किंविशिष्टो नाथः? 'तेषा' पशूना 'क्रन्दने'

करुणशब्दे 'हेतु' निमित्त 'अवजिगमिषु·' ज्ञातुमिच्छुः, किंरूपेण सादिना ? 'मुकुलितकरेण' योजितहस्तेन, हे नाथ ! 'एषा' पशूना 'कीनै·' मांसै. 'ते' तव विवाहे गौरव 'शोभातिशय' शोभाधिक्य 'अयिता' प्राप्स्यति । किंरूपैः कीनैः ? 'शूल्यै' शूलाकृतैः, क इव ? 'जलनिधिरिव' यथा जलनिधि· 'नादेयवाहै.' नदीसम्बन्धिप्रवाहै· शोभातिशय प्राप्नोति । अत्र शूलया सस्कृतानि शूल्यानि "शूलो-खाद्यः" (सि० ६–२–१४१) इति यप्रत्यये "अवर्णेवर्णस्य" (सि० ७–४–६८) इति आलोपे शूल्य इति रूपम् । नदीना-मिमे नादेया· "नद्यादेरेयण्" (सि० ६–३–२) इति एयण्प्रत्यये "अवर्णेवर्णस्य" (सि० ७–४–६८) ईलोपे नादेय इति रूपम । अत्रानुप्रासोपमाद्या· ॥ ४२ ॥

मीलन्नेत्रद्वयमयमदःकृत्य कर्तास्म्यथैत-
न्निश्चित्यैवं समजमिभमानीनयत् सादिनैषाम् ।
श्रोतःसार्थं विविधगतिना चेतसा बन्धमोक्षा-
लङ्कर्मीणः सकलविषयग्राममात्मेव देवः ॥ ४३ ॥

हे जलधर ! 'अय देव.' श्रीनेमिनाथः 'सादिना' आधोरणेन 'इभ' गजेन्द्र 'एषा' पशूना 'समज' वर्ग वाटकमिति यावत् आनीनयत् । किं कृत्वा ? 'मीलन्नेत्रद्वय' सङ्कुचन्नयनयुगल यथा भवति एव निश्चित्य, यदा विचारः स्वहृदि क्रियते तदाऽक्षिणी निमील्य एकाग्रीभूयते इति भावः। एवमिति किम् ? अह अद.कृत्य अथ एतत्कर्तास्मि, राजीमती हि मुखनयनभावैर्ध्यानस्य स्थूलता वेत्ति न तु हृद्गत भावम् , अतः पशून् मोचयित्वा दीक्षा लास्या-मीति निश्चय कृत्वेत्यर्थः । क इव ? 'आत्मेव' यथा आत्मा 'चेतसा' मनसा 'श्रोत.सार्थं' श्रोतसां इन्द्रियाणा सार्थं समूहं 'सकल-विषयग्राम' समस्तग्राह्यशब्दादिपदार्थराशिं आनयति प्रापयति । अयमर्थः—यथाऽऽत्मा मनसा हेतुभूतेनेन्द्रियाणि स्वविषयान्

शब्दादीन् प्रापयति तथा देवोऽपि सादिना हेतुना इभं पशुवाटक-मानयदिति । किंविशिष्टेन चेतसा? 'विविधगतिना' विविधा विचित्रा शब्दादिग्रहणार्थं गतिर्यस्य, सादिनाऽपि किंरूपेण? 'विविधगतिना' विविधा गतिः ज्ञानं गजशिक्षास्वामिचित्तानुवर्तनादिरूपा वा यस्य स तेन । किंविशिष्टो देवः? 'बन्धमोक्षालङ्कर्मीणः' बन्धेभ्यो मोक्षे मोचनेऽलङ्कर्मीणः कर्मक्षम, आत्माऽपि कर्मणा बन्धे मोक्षे चालङ्कर्मीणः समर्थः । अद्.कृत्य इति "अग्रहानुपदेशेऽन्तरदः" (सि० ३–१–५) इति गतिसञ्ज्ञाया क्त्वो यप् । समजमिति "अज क्षपणे" सपूर्वं समजन समजं "समुदोऽजः पशौ" (सि० ५–३–३०) इति अल्प्रत्यय । नी द्विकर्मको धातुः । अत्रोदात्तोपमादयः ॥ ४३ ॥

दीनोत्पश्यान् पुरवननभश्चारिणश्चारबन्धं
बद्धान् बन्धैर्गलचलनयोर्वेपिनो मृत्युभीत्या ।
प्रीतः पृथ्वीपतिरिव जवादेष जन्तून् समन्तू-
नुन्मोच्य स्वं द्विरदमनयद्वेश्मनः सम्मुखत्वम् ॥ ४४ ॥

हे मेघ! 'एषः' भगवान् 'जवात्' वेगात् जन्तून् 'उन्मोच्य' छोटयित्वा स्वं 'द्विरदं' हस्तिनं वेश्मनः सम्मुखत्वमनयत् । किंरूपान् पशून्? दीनं यथा भवति उत् ऊर्ध्वं पश्यन्ति विलोकयन्तीति दीनोत्पश्यास्तान्, 'पुरवननभश्चारिणः' पुरचारिणः छागाऽऽदयः वनचारिणो हरिणतित्तिरादयः आकाशचारिणः पक्षिणः, पुनः कथभूतान्? गलचलनयोः 'चारबन्धं बद्धान्' चारे गुप्तिगृहे यथा बध्यते तथा बन्धैः रज्ज्वादिभिर्बद्धान्, मृत्युभीत्या 'वेपिनः' कम्पनशीलान् । क इव? 'पृथ्वीपतिरिव' यथा पृथ्वीपतिः 'प्रीतः' तुष्टः सन् 'समन्तून्' सापराधान् मकृयादीनुन्मोचयति । उत् ऊर्ध्वं पश्यन्तीति "घ्राध्मापाट्धेदृशः शः" (सि० ५–१–५८) शप्रत्यये "श्रौति०" (सि० ४–२–१०८) इति पश्यरूपम् । चारे

बध्यते इति चारबन्धम् "आधारात्" (सि० ५–४–६८) इति सूत्रेण णम्प्रत्ययः । अत्र जातिपरिकरोपमाद्या ॥ ४४ ॥

यानत्याज सपदि पितरावग्रतोऽथास्य भूत्वा
वर्षा बाष्पप्लवविगलनात् पौनरुक्त्यं नयन्तौ ।
इत्यूचाते चिरमतमहाज्जात ! कस्मादकस्मा-
दस्मादश्माऽऽस्फलिततटिनीपूरवत्त्वं निवृत्तः ? ॥ ४५ ॥

'अथ' अनन्तर पितरौ 'सपदि' तत्काल 'यानत्याज' यान त्यक्त्वाऽस्य अग्रतो भूत्वा इति 'ऊचाते' अवदताम् । किंकुर्वन्तौ ? बाष्पप्लवविगलनात् वर्षाः 'पौनरुक्त्य' पुनरुक्तभाव 'नयन्तौ' प्रापयन्तौ, बाष्पाणि अश्रूणि तेषा प्लवः पूरः तस्य विगलन क्षरणं तस्मात्, अग्रेऽपि वर्षासु घना वर्षन्तः सन्ति तदा पितरावपि अश्रुप्रवाहैर्वर्षितु लग्नौ इति वर्षाकालस्य पौनरुक्त्यम् । इतीति किम् ? 'हे जात !' हे पुत्र ! त्व कस्मात् हेतोः 'अकस्मात्' सहसैव अस्मात् 'चिरमतमहात्' चिराभीष्टपाणिग्रहणमहोत्सवान् निवृत्तः ?, किंवत् ? 'अश्माऽऽस्फलिततटिनीपूरवत्' अश्मसु पाषाणेषु आस्फलितः प्रतिहतः तटिनीपूरो नदीपूरस्तद्वत् । अत्र यान त्यक्त्वा यानत्याज "द्वितीयया" (सि० ५–४–७८) इति सूत्रेण णम् । अत्रातिशयोक्त्यनुप्रासोपमाः ॥ ४५ ॥

तौ खिन्दानौ यदुपरिबृढो वारयित्वेत्यजल्पद्
बन्धो ! सिन्धो ! विनयपयसामाश्रितान् प्राक् प्रसत्तिम् ।
प्रापय्याथो दवयसि कुतः शुक्छिखादह्यमानान्
नासंभाव्यं किमपि यदि वा ब्रह्मपर्यायसक्ते ॥ ४६ ॥

'यदुपरिबृढः' श्रीकृष्णः 'तौ' प्रभोः पितरौ 'खिन्दानौ' खेदं धरन्तौ वारयित्वा इति अजल्पत्—हे बन्धो ! हे विनयपयसां 'सिन्धो' ! समुद्र ! त्व आश्रितान् 'प्राक्' पूर्वं 'प्रसत्तिं' प्रसादं 'प्रापय्य' लम्भयित्वा 'अथो' अनन्तर कुतः कारणात् 'दवयसि'

परितापयसि? "दूङ्च् परितापे" इति दू, दवनं दवः, "युवर्ण-वृदृवशरणगमृद्ग्रहः" (सि० ५–३–२८) अलप्रत्ययः, "नामिनो गुणोऽक्ङिति" (सि० ४–३–१) गुणः, दव करोषि दवयसि "णिज् बहुलं०" (सि० ३–४–४२) णिचा सिप्रत्यये रूपम् । किंविशिष्टान् आश्रितान्? 'शुक्शिखादह्यमानान्' शुक् शोकः स एव शिखा ज्वाला तया दह्यमानान् ज्वाल्यमानान् । 'यदि वा' अथवा ब्रह्मपर्यायसक्ते पुरुषे एतत् किम् (किमपि न) असम्भाव्यम्, ब्रह्म ब्रह्मचर्यं तस्य पर्यायः परिणामः तत्र सक्ते, अथवा ब्रह्मणो ब्राह्मणस्य पर्यायो वाडवस्तत्र सक्ते, यद्यपि ब्रह्मपर्याया द्विजाद्या बह्वोऽपि सन्ति तथाऽप्यत्र सिन्धुसाधर्म्याद्दहनाधिकाराच्च वाडवो लभ्यते, अत्रापि सिन्धौ लोकरूढ्या वाडवो ज्वलन् वर्ण्यते, ब्रह्म-शब्देनापि ब्राह्मणः कथ्यते, यतः "सूर्यंत्रावाक् मागर्वीरश्वमेधिम् मकृदहमिति ब्रह्महन् मा विषादी" इत्यादि, "ब्रह्मस्त्रीभ्रूणगोघात०" इत्यादि योगशास्त्रादिप्रसिद्धेः । अत्र विरोधसमसमासोक्तिरूपकानु-प्रासाः । "नास०" इत्यादि समम् ॥ ४६ ॥

कारुण्यौकश्चरिषु विघृणो बन्धुतायां सुतृष्णक्
मुक्तौ मूर्त्तिद्विषि कुलकनीस्वीकृतौ वीततृष्णः ।
कौलीनाप्तेर्दरविरहितः संसृतेः कान्दिशीकः
प्रारब्धार्थांस्त्यजसि भजसेऽप्रस्तुतांस्तन्नमस्ते ॥ ४७ ॥

हे बन्धो! 'तत्' तस्मात्कारणात् 'ते' तुभ्यं नमोऽस्तु, अयं नमस्कारो निन्दास्तुतिरूपः । यत् त्वं 'चरिषु' तिर्यक्षु 'कारुण्यौकः' कारुण्यस्य करुणाया ओकः स्थानम्, 'बन्धुतायां' बन्धुसमूहे 'विघृणः' निर्दयः, मुक्तौ 'सुतृष्णक्' सुष्ठु अतिशयेन तृष्णक् लुब्धः, किंरूपायां मुक्तौ? 'मूर्त्तिद्विषि' मूर्तिं शरीरं द्वेष्टि न सहते शरीरक्षये मुक्तिभावात्, अन्या या स्त्री भर्तुः शरीरद्वेषिणि विष-कन्यारूपा साऽधमा । कुलकनी कुलकन्या तस्याः स्वीकृतौ अङ्गी-

कारे 'वीततृष्णः' निःस्पृहः, कुलकनीति कथनेन या उत्तमस्त्रीत्वात् मूर्तेः सुखकारिणीति ज्ञापितम् । 'कौलीनाप्ते' परापवादः कौलीनं तस्याप्ते प्राप्तेः 'दरविरहित.' दरेण भयेन विरहित अङ्गीकृत-विवाहत्यागेऽत्रापवादान्न बिभेषि । 'ससृते' संसारात् 'कान्दिशीक' भीरुः । 'प्रारब्धार्थान्' विवाहमुख्यान् त्यजसि, 'अप्रस्तुतान्' अप्रारब्धान् वैराग्यमुख्यान् भजसे । अन्यो विवेकवान् पूर्वं प्रारब्ध कार्यं समाप्य पश्चादन्यत् कार्यान्तरं प्रारभते । बन्धूनां समूहो बन्धुता "ग्रामजनबन्धुगजसहायात्तल्" (सि० ६–२–२८) तल्प्रत्ययः, त, "आत्" (सि० २–४–१८) आप्प्रत्ययः । तृष्णगिति "ञितृषच् पिपासायां" तृष्यतीत्येवशीलः "तृषिधृषि-स्वपो नजिङ्" (सि० ५–२–८०) नङ्प्रत्यय , नस्य णत्वम् । अत्र विरोधरूपकसमुच्चयपर्यायोक्तव्याजस्तुत्यनुप्रासाः । सर्वेणा-प्यर्थेन भगवतो वैराग्यमेव वर्णितमिति पर्यायोक्तम् ॥ ४७ ॥

नर्तेऽर्तीनां नियतमवरावावरीमां तपस्यां
यस्योदर्कः सततसुखकृत्कृत्यमर्घ्यं सतां तत् ।
दामत्कर्मप्रसितभविनो मोचयिष्ये चरीन् वा
नेमिः प्रत्यादिशदिति हरिं भूरि निर्बन्धयन्तम् ॥४८॥

नेमिः 'हरिं' श्रीकृष्णं 'इति प्रत्यादिशत्' इत्युक्त्या निषिद्धवान् । किंरूपं हरिम् ? 'भूरि' अत्यर्थं 'निर्बन्धयन्त' आग्रहं कुर्वन्तम् । इतीति किम् ? हे हरे ! इमां 'तपस्यां' दीक्षां 'ऋते' विना 'अवरा' काऽपि स्त्री ('नियत' निश्चितम्) 'अर्तीनां' बाधानां 'न अवावरी' न अपनेत्री स्फेटिकेति यावत् । 'सतां' साधूनां तत् 'कृत्यं' कार्यं अर्घ्यं श्लाघ्यम् , यस्य उदर्कः 'सततसुखकृत्' निरन्तरसुखकारी स्यात् , "उदर्कः तद्भव फलम्" (अभि० चि० २–७६) उत्तरकालोद्भवं फलमुदर्कः कथ्यते । अह दाम बन्धनं तदिवाचरन्ति दामन्ति यानि कर्माणि तैः प्रसिता बद्धा ये भविनः प्राणिनस्तान् 'मोचयिष्ये' कर्म-बन्धनेभ्यश्छोटयिष्यामीत्यर्थः । कानिव ? 'वा' इवार्थे, 'चरीन् वा'

चरयः तिर्यञ्चः तानिव, यथा तिर्यञ्चो बन्धनान्मोचिताः । 'नर्तेऽर्तिना' न ऋते अर्तिनाम् इति पदानि । तपस्यामित्यत्र "ऋते द्वितीया च" (सि० २–२–११४) इति ऋतेयोगे द्वितीया । अवावरी "ओणृ अपनयने" इति ओण् धातुः, ओणतीति "मन्वन्क्वनिप्विच् क्वचित्" (सि० ५–१–१४७) क्वन्, "अहन्पञ्चमस्य क्विक्ङिति" (सि० ४–१–१०७) णकार आकार "ओदौतोऽवाव्" (सि० १–२–२४) इति अव् "लोकात्" (सि० १–१–३) ततोऽवावन् इति सिद्धम्, "णस्वराघोषाद्वनो रश्च" (सि० २–४–४) ङीप्रत्ययः, नकारस्य रकारो "लोकात्" (सि० १–१–३) इति अवावरी सिद्धम्, प्रत्ययः सि, "दीर्घङ्याब्व्यञ्जनात्से" (सि० १–४–४५) सिलोपः । दामेवाचरन्ति "कर्तुः क्विप् गल्भक्लीबहोडात्तु ङित्" (सि० ३–४–२५) क्विप्, "नाम्नो नोऽनह्नः" (सि० २–१–९१) नलोप, "अप्रयोगीत्" (सि० १–१–३७) दामन्तीति वर्तमाना—शतृप्रत्यय । अत्रोपमारूपकहेत्वलङ्कारा.॥४८॥

तस्मिन्नेवं व्यवसितवति प्रश्लथप्रेमपाशा
　नाशाश्वासच्छलपरिगलज्जीविता यादवौघाः ।
सोरस्ताडं सुगुरु रुरुदू रोदसी रोदयन्तः
　प्रत्युत्पन्नप्रतिरवमिषान्मुष्टसर्वस्ववत्ते ॥ ४९ ॥

ते यादवौघा. 'सोरस्ताड' यथा भवति उरसस्ताडन कुट्टन उरस्ताडः, सह उरस्ताडेन वर्तते इति सोरस्ताडम्, 'सुगुरु' अत्यर्थ यथा भवति 'रुरुदु.' रुदितवन्तः । क्व सति ? 'तस्मिन्' भगवति एव 'व्यवसितवति' निश्चितवति सति यन्मया व्रतमेव ग्रहीतव्यम् । किंविशिष्टा यादवौघाः ? 'प्रश्लथप्रेमपाशाः' प्रश्लथ. शिथिलीभूतः प्रेमपाशः स्नेहबन्धन येषाम्, पुनः कथभूताः ? 'नाशा०' नाशा नासिका तस्याः श्वासस्तस्य च्छलेन परिगलत् च्यवमान जीवितं जीवितव्य येषाम् । किं कुर्वन्तः ? 'प्रत्युत्पन्नप्रतिरवमिषात् रोदसी'

रोदयन्तः, प्रत्युत्पन्न समुत्पन्न प्रतिरवः प्रतिशब्द तस्य मिषात् रोदसी आकाशपृथिव्यौ। किंवत्? 'मुष्टसर्वस्ववत्' यथा मुष्टसर्वस्वा रुदन्ति। अत्र जात्यपह्नुत्युपमानुप्रासाः॥ ४९॥

तेषामेव प्ररुदितवतां किङ्करन्नाकिचक्रो-
पोपानीतं विदधदभितोऽप्यर्थिसादर्थसार्थम्।
प्रातः प्रातः स्वभवनगतो डिण्डिमोद्घोषपूर्वं
प्राक्रंस्तासौ वितरणमथो वार्षिकं हर्षधाम॥ ५०॥

'अथो' अनन्तर 'असौ' भगवान् प्रातः प्रातः स्वभवनगतो 'डिण्डिमोद्घोषपूर्वं' डिण्डिमः पटहस्तस्य उद्घोषपूर्वक 'वार्षिक सांवत्सरिक 'वितरण' दान 'प्राक्रंस्त' प्रारब्धवान्। केषा किंभूतानाम्? 'तेषा' यादवाना 'प्ररुदितवतामेव' रोदितु प्रारब्धानामेव। किं कुर्वन्? 'अभितोऽपि' समन्ततोऽपि 'अर्थसार्थं' द्रव्यसञ्चय 'अर्थिसात्' याचकायत्त विदधत्। किंरूपमर्थसार्थम्? 'किङ्करन्नाकिचक्रोपोपानीत' किङ्करता किङ्करवदाचरता नाकिचक्रेण देववृन्देन उप समीपे उपानीत ढौकितम्। किंरूप वितरणम्? 'हर्षधाम' स्पष्टम। तेषामित्यत्र "षष्ठी वाऽनादरे" (सि० २–२–१०८) इत्यत्र (इति) षष्ठी, यथा रुदतो लोकस्य रुदति वा लोके प्राव्राजीत्। प्ररुदितवतामित्यत्र प्र–उपसर्गः प्रारम्भे "गत्यर्थाकर्मकपिबभुजेः" (सि० ५–१–११) इत्यनेन कर्तरि क्तवत्प्रत्ययः। किङ्कर इवाचरतीति "कर्तुः क्विप्०" (सि० ३–४–२५) इति क्विप्, "अन्त्यस्वरादेः" (सि० ७–४–४३) अन्त्यस्वरलोपः, "अप्रयोगीत्" (सि० १–१–३७) क्विप्लोपः, किङ्करतीति वर्तमाने "शत्रानशा०" (सि० ५–२–२०) शतृप्रत्यये किङ्करदिति सिद्धम्, किङ्करच्च तन्नाकिचक्र च किङ्करन्नाकिचक्र तेन। अर्थिषु आयत्तमर्थिसात् "तत्रादीने" (सि० ७–२–१३२) इति सात्प्रत्ययः। प्राक्रंस्तेति "क्रमू पादविक्षेपे" प्रपूर्वः, "प्रोपादारम्भे"

(सि० ३–३–५१) इत्यात्मनेपदम्, अद्यतनी तप्रत्यये सिचि "क्रमः" (सि० ४–४–५३) इति इड्निषेध । वर्षे देय वार्षिक "काले कार्ये च भववत्" (सि० ५–४–९८) इकण्प्रत्ययः, वृद्धिः । अत्र समोदात्तानुप्रासाः ॥ ५० ॥

प्रत्यावृत्ते परिणयभुवः प्राणितेशे निराशा
शम्पापातोपमिति पपतोत्पीडिता तत्प्रवृत्त्या ।
पृथ्वीपीठप्रतिहततमोन्मूलिताधारसाला
वल्लीव द्राक् सकलविगलद्भूषणालिप्रसूना ॥ ५१ ॥

हे मेघ! अह निराशा सती शम्पापातोपमिति यथा भवति 'पपत' पतिता, शम्पा विद्युत् तस्या॰ पातः स च उपमिति उपमान यथा भवति, यथा विद्युत् पतति तथा पपातेत्यर्थः । क सति? 'प्राणितेशे' जीवितव्यस्वामिनि श्रीनेमिनि 'परिणयभुव' पाणिग्रहण-भूमिकाया॰ 'प्रत्यावृत्ते' पश्चाद्वलिते सति । किरूपा?'तत्प्रवृत्त्या' सा वलनरूपा प्रवृत्ति॰ वार्ता तया 'उत्पीडिता' प्राबल्येन पीडिता । किरू-पाऽहम्? 'द्राक्' शीघ्र वल्लीव 'सकलविगलद्भूषणालिप्रसूना' सकला विगलन्ती पतन्ती भूषणानामालि॰ श्रेणि सैव प्रसूनानि पुष्पाणि यस्या. । किरूपा वल्ली? 'पृथ्वीपीठप्रतिहततमोन्मूलिताधारसाला' पृथ्वीपीठे प्रतिहततम पातेन भृश भग्न उन्मूलितः छिन्न आधारसालः आधारवृक्षो यस्याः । पपतेति "णिद्वाऽन्त्यो णव्" (सि० ४–३–५८) इति वृद्धिविकल्पाद्रूपम् । अत्रोपमानरूपकानुप्रासा ॥ ५१ ॥

उद्यद्दुःखज्वरभरवती संनिमज्याहमस्मिन्
मोहाम्भोधौ सुखमिव तदा यत् पयोदान्वभूवम् ।
तापस्तस्मादुदलसदसौ कोऽप्यलं कम्पसम्प-
द्युक्तो यस्मात्समजनि ममानर्गलो विप्रलापः ॥ ५२ ॥

'हे पयोद!' हे मेघ! अह तदा यत् सुखमिव अन्वभूवम्,

कि कृत्वा ? त (अ)स्मिन् 'मोहाम्भोधौ' मूर्छासमुद्रे 'सनिमज्य' ब्रुडित्वा । किंरूपाऽहम् ? 'उद्यदुःखज्वरभरवती' उद्यन्ति उदयमागच्छन्ति दुःखानि स (तानि) एव ज्वरभरस्तेन युक्ता, यथा कोऽपि ज्वरार्तो जलस्थाने मङ्क्त्वा क्षणमेक सुखमिवानुभवति तथाऽहमपि मूर्छिता सती तदा सुखमिवानुभूतवतीत्यर्थ । 'तस्मात्' मोहाम्भोधिमज्जनात् (असौ) कोऽपि 'ताप॰' सतापः 'उदलसत्' उल्लसति स्म । किंरूपस्ताप ? 'अल' अत्यर्थ 'कम्पसम्पद्युक्त' कम्पस्य सम्पदा युक्त॰, 'यस्मात्' तापात् मम 'अनर्गल॰' बहुल 'विप्रलाप.' समजनि "विप्रलापो विरुद्धोक्तिः" । यथा ज्वरार्त्तस्य जलमज्जने क्षणिकसुखानुभवादनु महान् तापः कम्पोत्कर्षवान् उच्छलति ततो विशिष्टतर प्रलापो बाढमरति॰ सजायते तथा ममापि मूर्छानिवृत्तौ महास्तापोऽभूत् तस्मात्तापात् सतापो विप्रलापोऽसमञ्जसभापण बभूवेत्यर्थ॰ । अत्र श्लेषरूपकजात्यनुप्रासाद्या ॥ ५२ ॥

अग्रेधूमध्वजगुरुजनं चेदुदुह्य व्यमोक्ष्यत्
तत् पाथोधौ प्रवहणमुपक्षिप्य सोऽमज्जयिष्यत् ।
राजन्यानामधिगुणतरोऽन्योऽथ भावी विवोढे-
त्यालीनां गीरजनि च तदा मे क्षतक्षारतुल्या ॥ ५३ ॥

हे मेघ ! 'तदा' तस्मिन् प्रस्तावे इति 'आलीना' सखीना 'गीः' वाणी 'मे' मम क्षतक्षारतुल्याऽजनि, यथा क्षते क्षारक्षेपे महद्दुःख जायते तथैव सखीना वाणी मम दु.खितायाः सत्याः पुनर्गाढदु॰ख-करी बभूवेत्यर्थः । इतीति किम् ? हे सखि ! 'चेत्' यदि सः अग्रेधूमध्वजगुरुजन 'उदुह्य' परिणीय 'व्यमोक्ष्यत्' अत्यक्ष्यत् , धूमध्वजः अग्निः गुरुजनः पूज्यजनः तयोरग्रे अग्रेधूमध्वजगुरुजनम् , तत् सः 'पाथोधौ' समुद्रे प्रवहण 'उपक्षिप्य' क्षिप्त्वा 'अमज्जयिष्यत्' अब्रुडयिष्यत् , एवभावः—यथा कोऽपि वहन समुद्रे क्षिप्त्वा मज्जयति यथा

तस्य वह्नस्य पुनरुद्धरण न स्यात्तथा यदि त्वमपि अग्निपूज्यस्वजनसाक्षिक परिणीय मुक्ताऽभविष्यन् तदा तव सत्या पुनः पाणिग्रहण नाघटिष्यत्, किन्तु त्वमपरिणीतैव मुक्ताऽसि अतस्तव पुनरन्यो वरो भविष्यतीत्याह—'अथ' अनन्तर तव 'राजन्याना' राजकुमाराणा (अधिगुणतरो) अन्य 'विवोढा' वरो भावी, अतो नेमिनाथे वलितेऽपि अधृतिर्न कार्येति भावः। धूमध्वजश्च गुरुजनश्च धूमध्वजगुरुजनौ, तयोरग्रे अग्रेधूमध्वजगुरुजनम् "पारे मध्येऽग्रेऽन्तः षष्ठ्या वा" (सि० ३–१–३०) इति सप्तम्या अलुप्, अव्ययीभाव· समासः। राजन्यानामित्यत्र "सप्तमी चाविभागे निर्धारणे" (सि० २–३–१०९) इति षष्ठी राज्ञोऽपत्यानि राजन्याः "जातौ राज्ञि (ज्ञः)" (सि० ६–१–९२) इति यप्रत्ययः। विवोढेति "वहीं प्रापणे" वह्, विवहतीति विवोढा "णकतृचौ" (सि० ५–१–४८) तृच्-प्रत्ययः, "हो धुट् पदान्ते" (सि० २–१–८२) ह् ढ, "अधश्चतुर्थात्तथोर्धः" (सि० २–१–७९) त ध, "तवर्गस्य श्चवर्गष्टवर्गाभ्या योगे चटवर्गौ" (सि० १–३–६०) ध ढ, "सहिवहेरोच्चावर्णस्य" (सि० १–३–४३) पूर्वढलोपः अकार ओ सि इत्यादि। अत्र विषमसमाद्यलङ्कारा ॥ ५३ ॥

क ग्रावाणः क कनकनगः काक्षकाः कामरद्रुः
काचांशाः क क दिविजमणिः कोडवः क द्युरत्नम्।
कान्ये भूपाः क भुवनगुरुस्तस्य तद्योगिनीव
ध्यानान्नेष्ये समयमिति ताः प्रत्यथ प्रत्यजानि ॥ ५४ ॥

हे मेघ! अहम् अथ 'ताः' सखीः प्रति इति 'प्रत्यजानि' प्रतिज्ञातवती। इतीति किम्? अह 'तत्' तस्मात्कारणात् योगिनीव तस्य ध्यानात् 'समय' काल 'नेष्ये' गमयिष्यामि। तत् किम्? हे सख्यः! क 'ग्रावाणः' पाषाणाः? क 'कनकनगः' मेरुः?,

'अक्षकाः' बिभीतकाः क ? 'अमरद्रुः' कल्पवृक्षः क ?, 'काचाशाः' काचशकलानि क ? 'दिविजमणिः' चिन्तामणिः क ?, 'उडवः' नक्षत्राणि क ? 'द्युरत्न' सूर्यः क ?, अन्ये 'भूपाः' राजानः क ? 'भुवनगुरुः' श्रीनेमिः क ?, अतो यद्भवतीभिः प्रोक्त पुनरन्यो वरो भावीति तन्निषिद्धम्, तत अन्ये भूपा अक्षबिभीतककाचखण्डसामान्यग्रहतुल्याः, भगवान् मेरुकल्पद्रुचिन्तामणिसूर्यतुल्यः, अतो मम स एव ध्येय इति। दिवि जायत इति दिविजः "अनोर्जनेर्डः" (सि० ५–१–१६८) डप्रत्ययः, "डित्यन्त्यस्वरादेः" (सि० २–१–११४), "द्युप्रावृड्वर्षाशरत्कालात्" (सि० ३–२–२७) इति सप्तम्या अलुप्। प्रत्यजानि इति ज्ञाश् धातु, प्रतिपूर्वः "सप्रतेरस्मृतौ" (सि० ३–३–६९) इत्यात्मनेपदम्, इ, "अड् धातोरादिर्ह्यस्तन्या चामाङा" (सि० ४–४–२९) अडागमः, "क्र्यादेः" (सि० ३–४–७९) श्ना ना, "जा ज्ञाजनोऽत्यादौ" (सि० ४–२–१०४) ज्ञा जा, "श्नश्चातः" (सि० ४–२–९६) आकारलोपः, प्रत्यजानि इति निष्पन्नम्। अत्र यथासङ्ख्यार्थान्तरन्यासविषमाद्याः ॥ ५४ ॥

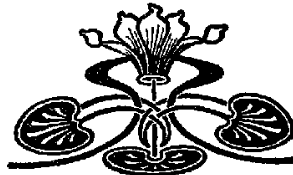
यद्यप्येनं परिणयमहं विश्वविश्वाभिनन्द्यो-
ऽतिर्यक्कारं त्वमिव सलिलासारमाश्चत्पतिर्मे।
आगार्हस्थ्यस्थिति तदपि चावार्षिकर्क्षं तवैवा-
मुष्यैवाशां हृदि विदधती सेयमस्थां प्रजेव ॥ ५५ ॥

हे मेघ[1] यद्यपि 'मे' मम पतिः एन 'परिणयमह' पाणिग्रहणोत्सव 'अतिर्यक्कार' असमाप्त कृत्वा 'आश्चत्' अगात्, किंरूपो भगवान् ? 'विश्वविश्वाभिनन्द्यः' विश्वेन समस्तेन विश्वेन जगताऽभिनन्द्यः श्लाघ्यः। क इव ? 'त्वमिव' यथा त्व 'सलिलासार' सलिलस्य पानीयस्य आसारो वेगवान् वृष्टिः त अतिर्यक्कार असमाप्त कृत्वाऽश्वसि

[1] पुस्त्व चिन्त्यम्, वर्ष इति हि स्यात्।

यासि, किंविशिष्टस्त्वम् ? (विश्वविश्वाभिनन्द्यः) स्पष्टम् । 'तदपि च' तथापि च 'सा इयं' अह आगार्हस्थ्यस्थिति 'अमुष्यैव' भगवत 'आशा' इच्छा (हृदि) विदधती अस्थाम् , अय भावः—यावत्स भगवान् गृहस्थोऽभून् तावत्तस्याशा न मुक्ता यत् अद्याङ्गीकरिष्यति कल्ये वा, केव ? 'प्रजेव' यथा प्रजा 'आवार्षिकर्क्ष' वार्षिकाणि वर्षासम्बन्धीनि ऋक्षाणि नक्षत्राणि तानि यावत्तवैवाशा विदधती तिष्ठति, यथा त्वयि खण्डवृष्टिं कृत्वा गते सति यावद्वर्षानक्षत्राणि भवन्ति तावज्जनस्तवाऽऽशा कुर्वन्नेव तिष्ठति, यद् अद्य वर्षिष्यति कल्ये वर्षिष्यतीति । अतिर्यक्कारमिति तिर्यञ्च कृत्वा तिर्यक्कारम् "तिर्यचापवर्गे" (सि० ५–४–८५) इति णम् । गार्हस्थ्यस्थितेर्यावत् आगार्हस्थ्यस्थिति "आङावधौ" (सि० २–२–७०) इति पञ्चमीप्राप्तौ "पर्यपाङ्बहिरच् पञ्चम्या" (सि० ३–१–३२) इत्यव्ययीभावः समासः । एवमावार्षिकर्क्षमिति ज्ञेयम् । अत्र दृष्टान्तोपमाद्याः ॥ ५५ ॥

इति आचार्य-श्रीशीलरत्नसूरिविरचितायां श्रीजैनमेघदूत-महाकाव्यटीकायां तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥



अथ चतुर्थः सर्गः ।

श्रीनेमीशः प्रतिदिनमथो कोटिमष्टौ च लक्षा
हेम्नः प्रातर्ददभिजनं कल्पसालायते स्म ।
चित्रं कम्पं करकिशलयं नाऽऽप पादप्रदेशे
लग्नाः पुण्यस्मितसुमनसश्छायया चाशि विश्वम् ॥ १ ॥

'अथो' अनन्तर श्रीनेमीशः प्रतिदिन 'प्रातः' प्रभाते 'अभिजन' लोकमभिमुखीकृत्य 'हेम्नः' सुवर्णस्य कोटि अष्टौ च लक्षा ददन् सन् 'कल्पसालायते स्म' कल्पवृक्ष इवाचरति स्म । 'चित्र' आश्चर्य 'करकिशलय कम्प न आप' दान ददतः स्थूललक्ष्यत्वेन करो न कम्पते स्म, पादप्रदेशे 'पुण्यस्मितसुमनस.' लग्ना पुण्यैः सुकृतै स्मिता विकस्वराः सुमनस. साधव', 'च' अन्यत् 'छायया' शोभया विश्व 'आशि' व्याप्तम् । अन्यस्य कल्पवृक्षस्य किशलय कम्पते, पुण्यानि पवित्राणि स्मितानि विकसितानि सुमनसः पुष्पाणि शिरसि लगन्ति, छायया च मिता भुव व्याप्नोति इति कल्पवृक्षादाधिक्यम । लक्षशब्दः स्त्रीक्लीबलिङ्गः । अत्रोदात्तोपमाव्यतिरेकश्लेषा' ॥ १ ॥

चिन्तारत्नं दृपदपगतज्ञानलेशः सुरद्रुः
स्वर्धेनुः सा पशुगतिगता पूर्णकुम्भश्च मृत्स्ना ।
चिन्तातीतं जगति वितरन् रुक्मरत्नादि दोपैः
प्रोक्तैरन्यैरपि परिहृतः सैष केनोपमेयः ॥ २ ॥

हे मित्र ! 'चिन्तारत्नं' चिन्तामणि' 'दृषत्' पाषाण., 'सुरद्रुः' कल्पवृक्षः 'अपगतज्ञानलेशः' अपगतो ज्ञानस्य लेशो यस्मात्स जड इत्यर्थः, विशिष्टज्ञानाभावादेवमुक्तम् । सा 'स्वर्धेनुः' कामधेनुः 'पशुगतिगता' स्पष्टम्, 'च' अन्यत् 'पूर्णकुम्भः' कामकुम्भः 'मृत्स्ना'

---

१ क्लीबत्व सर्वेषा चिन्त्यम् ।

मृत्तिका, तत स एष भगवान् केन 'उपमेय' उपमानयोग्यः ?, किं कुर्वन् ? 'जगति' पृथिव्या 'चिन्तातीत' चिन्तातिक्रान्त रुक्म-रत्नादि 'वितरन्' ददन्, रुक्म सुवर्ण, रत्नानि पद्मरागादीनि, आदि-शब्दाद्दुकूलाभरणहस्तितुरगादिपरिग्रह । किंविशिष्टो भगवान्? प्रोक्तैः दोषै. चिन्तामण्यादिसम्बन्धिभि अन्यै अप्रोक्तैरपि दोषैः 'परिहृत' त्यक्त', अत' स भगवान् दानगुणेन अनुपमान एवेत्यर्थ. । अत्राति-शयोक्तिसमुच्चयाद्या ॥ २ ॥

सम्पूर्णायां शरदि शरदः प्राक्तनर्तौ कदाचित्
नेमिः क्षेमङ्करचरितधीर्याप्ययानाधिरूढः ।
शक्रेशानाधिपधृतचलच्चामरोपास्यमानः
शुद्धध्यानद्वयनत इव च्छत्रलक्ष्येक्ष्यकीर्त्तिः ॥ ३ ॥
देवव्यूहैः समनुचरितः सर्वतो मागधद्भि-
र्ज्ञातेयेषु प्रसृतमतिभिः साधुभिर्दृश्यमूर्त्तिः ।
दिव्यातोद्ये निनदति मया काननं भूषिताङ्गो
गच्छन् दृष्टो रविरिव वनान्नीरजिन्या गवाक्षात् ॥ ४ ॥

॥ युग्मम् ॥

हे मेघ ! पाणिग्रहणत्यागादनु 'शरदि' वर्षे सम्पूर्णाया 'शरदः' शरत्कालात् 'प्राक्तनर्तौ' पूर्वर्तौ वर्षासु ऋतौ 'कदाचित्' कस्मिंश्चिद-वसरे मया 'गवाक्षात्' गवाक्षमारुह्य नेमि 'कानन' वन गच्छन् दृष्ट । किंरूपो नेमिः ? 'क्षेमङ्करचरितधी' क्षेमङ्कर कल्याणकारि यच्चरित चरित्र तत्र धी. बुद्धिर्यस्य, पुनः कथभूतः 'याप्यया-नाधिरूढ'' याप्ययान शिबिका अधिरूढ. 'शक्रेशानाधिपधृतचल-च्चामरोपास्यमानः' सौधर्मेन्द्रेशानेन्द्राभ्या धृताभ्या चलद्भ्या चाम-राभ्यामुपास्यमानः सेव्यमानः । उत्प्रेक्ष्यते—शुद्धेन ध्यानद्व-येन धर्मध्यानशुक्लध्यानरूपेण नत इव । 'छत्रलक्ष्येक्ष्यकीर्त्तिः' छत्रस्य लक्ष्येण मिषेण ईक्ष्या दर्शनीया कीर्त्तिर्यस्य । पुनः कथंभूतः ?

देवव्यूहैः 'सर्वतः' सर्वपार्श्वेषु 'समनुचरितः' सम् सामस्त्येन अनुचरितः अनुगतः, किंरूपैर्देवव्यूहैः ? 'मागधद्भिः' मागधैरिव आचरद्भिः । 'ज्ञातेयेषु' स्वजनेषु 'प्रसृतमतिभिः' प्रसृता विस्तृता मतिः बुद्धिर्येषां ते प्रसृतमतयो वृद्धा इत्यर्थः, तैः 'साश्रुभिः' क्षरदश्रुनेत्रैः दृश्या मूर्तिर्यस्य सः । क सति ? 'दिव्यातोद्ये' दिव्यवादित्रे 'निनदति' शब्दायमाने सति । किंविशिष्टो नेमिः ? 'भूषिताङ्गः' स्पष्टम् । क इव ? रविरिव यथा 'नीरजिन्या' कमलिन्या रविः श्रीसूर्यः 'वनात्' वनमाश्रित्य काननं गच्छन् दृश्यते, वनं पानीयं तदाश्रित्य तत्र स्थितयेत्यर्थः, सूर्योऽपि अधो गच्छन् वनं प्रविशन् दृश्यते, अथवा कस्य पानीयस्य आननं मुखम्, सायं पश्चिमाम्भोधौ रविर्निमज्जतीति रूढिः । क्षेमङ्करेति क्षेमं करोतीति "क्षेमप्रियमद्रभद्रात् खाण्" (सि० ५–१–१०५) इति अण्प्रत्यये "खित्यनव्ययारुषोर्मोऽन्तो ह्रस्वश्च" (सि० ३–२–१११) इति मोऽन्ते क्षेमङ्करेति पदम् । मागधा इवाचरन्तीति "कर्तुः क्विप्०" (सि० ३–४–२५) क्विपि शतरि भिसि मागधद्भिरिति । ज्ञातेयेषु ज्ञातयः स्वजनाः, ज्ञातेरपत्यानि ज्ञातेयाः "इतोऽनिञः" (सि० ६–१–७२) इति एयण् । दिव्यातोद्ये इति जातावेकवचनम् । वनात् गवाक्षादिति "गम्ययपः कर्माधारे" (सि० २–२–७४) इति पञ्चमी । अत्र परिकरोत्प्रेक्षोपमानुप्रासाः ॥ ३–४ ॥

सद्योमाद्यद्विषमविरहाबाधविस्मारिणी मां
मूर्छाऽतुच्छाऽसजदसुपरिभ्रंशभीता सखीव ।
यावत्तावत् परपरिचितेर्मत्सरेणेव सख्यः
कृत्वा किञ्चिच्छलमलमपासारयंस्तां वराकीम् ॥ ५ ॥

हे मेघ ! यावत् अतुच्छा मूर्छा मां 'असजत्' आलिङ्गत्, किंविशिष्टा ? 'सद्योमाद्य०' सद्यः तत्कालं माद्यन् प्रबलीभवन् विषमविरहस्य आबाधः पीडा तां (तं) विस्मारयतीति, उत्प्रेक्ष्यते—असूनां प्राणानां परिभ्रंशात् च्यवनात् भीता सखीव, यथा सखी काश्चि-

द्राढदुःखिता सखीं विरहार्त्तिविस्मारणार्थं सजति तावत् सख्यः 'किञ्चिच्छल' जलसेचनादिक कृत्वा ता वराकीं ('अल' अत्यर्थ) अपासारयन्, उत्प्रेक्ष्यते—'परपरिचिते.'अन्यपरिचयस्य मत्सरेणेव, अमेतना हि सख्य. परपरिचय न क्षमन्ते इति । एतावता श्रीनेमिन गच्छन्त दृष्ट्वा मम विरहदु.खान्मूर्छा समेता, तत सखीभिः जलसेचनाद्युपचारैर्मूर्छा वालितेति । अत्रोत्प्रेक्षानुप्रासोपमाद्याः ॥५॥

त्यक्तैवातः परमचिकिलक्लिन्नवासोवदेषा
हा किं भावि ? स्फुटसि हृदय ? द्वैधमापद्य किं न ? ।
ईदृक्चिन्ताकुलतममनस्तापबाष्पायितास्यो-
द्यातास्राम्बुर्व्यजनिषि ततोऽस्तोकशोकोदकुम्भः॥ ६ ॥

हे मेघ ! 'ततः' तदनन्तर अह 'अस्तोकशोकोदकुम्भः व्यजनिषि' अस्तोको बहुलः शोकस्तदेव उदक तस्य कुम्भः उदकुम्भ. पानीयकुम्भरूपा जाता । किंरूपाऽहम् ? 'ईदृक्चिन्ता०' ईदृग् वक्ष्यमाणा या चिन्ता तयाऽऽकुलतम अत्याकुल यन्मनस्तस्य तापेन बाष्पान् उष्णनिःश्वासरूपान् उद्वान्त यद् आस्य मुख तत्रोद्यातानि प्रवाहेण व्यूढानि अस्राम्बूनि अश्रुजलानि यस्याः सा ईदृक्षा । 'एषा' अह अतः पर 'अचिकिलक्लिन्नवासोवत्' त्यक्तैव, अचिकिलः कर्दमस्तेन क्लिन्नं आर्द्रं यद्वासो वस्त्र तद्वत् । यावद्भगवान् गृहस्थ आसीत्तावदाशाऽभूत् यद् अद्य स्वीकरिष्यति कल्ये वा, अत पर तु दीक्षितेन भगवताऽह त्यक्तैव । 'हा' इति खेदे, किं भावि ?, हे हृदय ! 'द्वैध' द्विधात्व 'आपद्य' प्राप्य किं न 'स्फुटसि' विदीर्यसे ? । द्वौ प्रकारौ द्वैधम् "द्वित्रेर्धमज्ञेधौ वा" (सि० ७–२–१०७) इति धमञ्प्रत्ययः, "वृद्धिः स्वरेष्वा०" (सि० ७–४–१)। बाष्पमुद्वान्त बाष्पायितम् "फेनोष्मबाष्पधूमादुद्वमने" (सि० ३–४–३३) क्यङ्प्रत्ययः, "दीर्घश्च्वियङ्यक्क्येषु०" (सि० ४–३–१०८) दीर्घः, बाष्पायते स्म बाष्पायित "क्तक्तवतू"

(सि० ५–१–१७४) क्तप्रत्यय इत्यादि । उदकस्य कुम्भ उदकुम्भ. "वैकव्यञ्जने पूर्ये" (सि० ३–२–१०५) इति उदकस्य उद । अत्रोपमातिशयोक्तिरूपकानुप्रासा॰ ॥ ६ ॥

प्राग्निर्दग्धं दिनदिननवत्तीव्रवर्षेजशुष्म-
प्रख्यासौख्यैर्जगदिनजगज्जीवनापानपीनम् ।
सम्प्रत्युष्णोच्छ्वसितवशतो बाष्पधूमायमानं
स्फोटं स्फोटं हृदयमिदकं चूर्णखण्डीयते स्म ॥ ७ ॥

हे मेघ ! 'इदक' हृदय 'स्फोट स्फोट' स्फुटित्वा स्फुटित्वा 'चूर्णखण्डीयते स्म' चूर्णखण्डमिवाचरति स्म, किरूप हृदयम् ? 'दिनदिननवत्तीव्रवर्षेजशुष्मप्रख्यासौख्यैः प्राग्निर्दग्ध' दिने दिने नवन्ति नवीनानीवाचरन्तीति तीव्राणि वर्षेजानि वर्षोत्पन्नानि शुष्मप्रख्यानि शुष्मा अग्निः तत्प्रख्यानि तत्प्रकाराणि असौख्यानि दुःखानि तैः (प्राक्–पूर्वं) निर्दग्धम्, पुन कथभूतम् ? 'जगदिन०' जगत इनः स्वामी श्रीनेमीशस्तस्य यज्जगज्जीवन आपान अत्यन्तदर्शन तेन पीन उपचितम्, पक्षे जीवन पानीय तस्य आ सामस्त्येन पानम्, पुन॰ कथभूतम् ? 'सम्प्रति' अधुना 'उष्णोच्छ्वसितवशतो बाष्पधूमायमानम्' उष्णानि उच्छ्वसितानि तेषा वशतो बाष्पसम्बन्धी धूमस्तमुद्वमत्, अयमर्थः—यथा चूर्णखण्ड पूर्वमग्निना दह्यते पश्चात् पानीयेन सिच्यते ततो बाष्पधूमं वमति ततः स्फुटति, एवमत्रापि यानि भगवत्तोरणपश्चाद्वलनदीक्षाग्रहणान्तरालवर्षसमुत्पन्नानि दिने दिने नवीनान्येव विरहदुःखानि तान्यग्निसदृशानि पश्चाद्दीक्षावसरे भगवतो यद्दर्शन तदेव जल तेन पानम्, अधुना तु उष्णोच्छ्वासा बाष्पधूमतुल्या. । वर्षेज इत्यत्र वर्षे जायन्त इति वर्षेजानि "सप्तम्याः" (सि० ५–२–१६९) इति डप्रत्ययः, "डित्यन्त्यस्वरादेः" (सि० २–१–११४) अन्लोपः, "वर्षक्षरवराप्सर शरोरोमनसो जे" (सि० ३–२–२६) इति सप्तम्या अलुप् । धूममुद्वमतीति "फेनोष्मबाष्पधू-

मादुद्गमने" (सि० ३-४-३३)।स्फोट स्फोट णमप्रत्ययः । कुत्सितम-ल्पमज्ञात वा इद इदकम् "लोकात्" (सि० १-१-३) अम् , अग्रे विश्लेषः, "त्यादिसर्वादेः स्वरेष्वन्त्यात्पूर्वोऽक्" (सि० ७-३-२९) विचालेऽक्प्रत्यय । अत्रोपमानुप्रासाद्याः ॥ ७ ॥

अत्र त्यक्त्वाऽखिलमपि यता स्वामिना काननाय
　व्युच्छिन्नाशा मुकुलितमुखी दीर्घदाहैकसद्म ।
रक्तोदेष्यन्निजपतिकरासञ्जनादस्तिसायं-
　वीकाशाशा दिनकुमुदिनीर्बह्वमन्येऽद्य मत्तः ॥ ८ ॥

अह अद्य 'मत्त·' मत्सकाशात् 'दिनकुमुदिनी· बहु अमन्ये' दिने कुमुदिन्यः सकुचिता निःश्रीका भवन्ति पर ता अपि मत्तो भव्या इत्यर्थ·, किंविशिष्टाऽहम् ? स्वामिना 'व्युच्छिन्नाशा' त्रोटिताभि-लाषा । किंविशिष्टेन स्वामिना ? अत्र 'अखिलमपि' गृहपरिवाराल-ङ्कारादिक त्यक्त्वा 'काननाय' वनाय 'यता' गच्छता । 'मुकुलित-मुखी' सकुचितवक्त्रा, 'दीर्घदाहैकसद्म' स्पष्टम् । किंरूपा दिनकु-मुदिनीः ? 'रक्तोदेष्यन्निजपतिकरासञ्जनात् अस्तिसायवीकाशाशाः' रक्तो रक्तवर्ण· उदेष्यन् उदय प्राप्स्यन् निज आत्मीय· पति स्वामी चन्द्रः तस्य कराणा आसञ्जनात् आश्लेषात् अस्ति विद्यमाना साय सन्ध्याया वीकाशाशा विकस्वरत्ववाञ्छा यासा ताः, साय चन्द्र उदेष्यति तत्कराश्लेषात्ता विकस्वरा भविष्यन्ति, अह तु एवविधा नास्मि, तत्पक्षे रक्तो रागपर उत् प्राबल्येन एष्यन् आगमिष्यन् निज· पतिः स्वामी तस्य करस्यासञ्जनात् आश्लेषात् चिरेणाप्यवि-द्यमानवीकाशाशा, मम चिरेणापि स्वपतिकराश्लेषो नास्तीत्यर्थः । यता इति "इणक् गतौ" एतीति वर्तमाने शतृप्रत्ययः अत् , "इणोरप्विति व्यौ" (सि० ४-३-१५) यत्व टाप्रत्यय । मुकुलित-मुखीति "नखमुखादनाम्नि" (सि० २-४-४०) ङीप्रत्ययः । काननायेति "गतेर्नवाऽनाप्ते" (सि० २-२-६३) इति कर्म-

प्रयोगे चतुर्थी । रक्तश्चासौ उदेष्यंश्च रक्तोदेष्यन्, रक्तोदेष्यश्चासौ निजपतिश्चेत्यादि समासः । अस्तीति विद्यमानार्थोऽव्ययप्रयोगः "विभक्तिथमन्ततसाद्याभा." (सि० १–१–३३) इतिवचनात् । वीकाश इति "नामिनः काशे" (सि० ३–२–८७) इति वी–दीर्घः । अमन्ये इति बुधि–मनिच् इति धातोर्ह्यस्तन्या इप्रत्यये रूपम् । अत्र व्यतिरेकहेतुश्लेषाद्याः ॥ ८ ॥

कोकी शोकाद्वसतिविगमे वासरान्ते चकोरी
शीतोष्णर्तुप्रशमसमये मुच्यते नीलकण्ठी ।
त्यक्ता पत्या तरुणिमभरे कञ्चुकश्चक्रिणेवाऽ-
मत्रं वारां ह्रद इव शुचामाभवं त्वाभवं भोः ! ॥ ९ ॥

भो मेघ ! 'कोकी' चक्रवाकी 'वसतिविगमे' रात्रिप्रान्ते 'शोकात्' विरहात् मुच्यते, चकोरी 'वासरान्ते' दिनान्ते शोकान्मुच्यते, 'नीलकण्ठी' मयूरी 'शीतोष्णर्तुप्रशमसमये' शोकान्मुच्यते, शीतोष्णसम्बन्धिनो ये ऋतवस्तेषां प्रशमः प्रान्तः तस्य समये वर्षाकालप्रारम्भे इत्यर्थः । 'तु' पुनर्भो मेघ ! अहं 'आभव' भव जन्म यावत् 'शुचां' शोकानां 'अमत्रं' पात्रं 'आभवं' आ सामस्त्येन अभवम् । क इव ? 'ह्रद इव' यथा ह्रदः 'वारां' पानीयानाममत्रं भवति । किंरूपाऽहम् ? 'तरुणिमभरे' तारुण्योत्कर्षे पत्या त्यक्ता, क इव ? 'कञ्चुक इव' यथा 'चक्रिणा' सर्पेण कञ्चुको निर्मोकपट्टः त्यज्यते, यथा स तं त्यक्त्वा उद्याति तथा सोऽपि मां त्यक्त्वा उद्यातवानेव । तरुणस्य भावः तरुणिमा "पृथ्वादेरिमन् वा" (सि० ७–१–५८) इति इमनप्रत्ययः । अत्र समुच्चयातिशयोक्त्युपमानानुप्रासाः ॥ ९ ॥

शम्बाकृत्योपयमनियमोद्दुःखहल्याभिरुप्ते
भर्तुर्दीक्षाग्रहनिशमनेनाद्य बीजाकृतेऽथ ।
सिक्तो नेत्राम्बुभिरविरलैः शोकशालिर्विशाले
शालेयेऽस्मिन्नुरसि सरसे पश्य पम्फुल्यतेऽसौ ॥ १० ॥

अहो मेघ ! 'पश्य' विलोकय (अद्य) अस्मिन् 'उरसि' हृदये 'विशाले' विस्तीर्णे 'शालेये' क्षेत्रे असौ शोकशालिः 'पम्फुल्यते' अत्यर्थं फलति, किंरूपे शालेये ? 'उपयमनियमोद्दुःखहल्याभिः शम्बाकृत्य उप्ते' उपयमः पाणिग्रहण तस्य नियमस्तस्माद् यानि उद्दुःखानि प्रबलदुःखानि तान्येव हल्या हलानि ताभिः शम्बाकृत्य अनुलोम्य कृष्ट तिर्यक् कृष्ट्वा उप्ते वापयुक्ते, पुनः कथंभूते ? 'अथ' अनन्तर 'भर्तुः' स्वामिनः 'दीक्षाग्रहनिशमनेन' दीक्षाग्रहणश्रवणेन 'बीजाकृते' आदावुप्ते पश्चाद्बीजैः सह कृष्टे इत्यर्थः । किंविशिष्टः शोकशालिः ? अविरलैः 'नेत्राम्बुभिः' अश्रुजलैः सिक्तः । पुनः कथभूते उरसि ? 'सरसे' शृङ्गाररसयुक्ते, पक्षे सरसे आर्द्रे । शम्बाकरण पूर्वं बीजाक्रियते स्म बीजाकृतम् इत्यत्र "तीयशम्बबीजात्कृगा कृषौ डाच्" (सि० ७–२–१३५) इति डाच्प्रत्ययः । अत्र रूपकानुप्रासातिशयोक्तयः ॥ १० ॥

दुःखस्यैवं जलधर ! परां कोटिमाटीकितां मां
　　चक्रस्येवोद्धुरविरहतस्तस्य भार्यां विदित्वा ।
चेत्त्वं सम्यग् जगति सविता तद्भजोच्चैर्गवोघं
　　तन्वानो मन्मुद उदयदं तं क्षमाधीशवित्तम् ॥ ११ ॥

हे जलधर ! 'चेत्' यदि त्व 'जगति' विश्वे सम्यक् 'सविता' पिता असि, अत्यन्तजगद्वत्सलत्वेन पितुरारोपः, अथवा सविता सूर्यः, 'तत्' तस्माद्धेतोः त्व त 'क्षमाधीशवित्तं भज' दूतत्व कुर्विति यावत्, क्षमायाः शमस्य अधीशाः स्वामिनो मुनयस्तेषु वित्त प्रधानं मुनीन्द्रश्रेष्ठमित्यर्थः, पक्षे क्षमा पृथिवीं दधातीति "उपसर्गाद्दः किः" (सि० ५–३–८७) इति किप्रत्यये क्षमाधयः पर्वताः तेषामीशाः स्वामिनः प्रधानपर्वतास्तेषु वित्त प्रसिद्धमुदयाचलमित्यर्थः । किं कृत्वा? मा तस्य भार्यां चक्रस्य भार्यामिव 'उद्धुरविरहतः' प्रबलविरहात् 'एव' अमुना प्रकारेण दुःखस्य 'परां' प्रकृष्टां 'कोटिं' अग्रविभागं 'आटी-

किता' आरूढा 'विदित्वा' ज्ञात्वा, यथाऽन्योऽपि सविता चक्रवाकस्य भार्या दुःखिता ज्ञात्वा उदयाचल भजते तद्विरहं स्फेटयति तथा त्वमपि त प्रभु भक्त्वा मद्विरह स्फेटयेत्यर्थः । किं कुर्वाणः ? 'उच्चैः' अतिशयेन गवौघ तन्वानः, गावो जलानि तेषामोघ प्रवाहः तम्, दूतपक्षे गावो वाचः, सूर्यपक्षे गावः किरणानि । किंविशिष्ट क्ष्मा-धीशवित्तम् ? 'मन्मुदः' मामकहर्षस्य उदयदम्, पर्वतपक्षेऽपि उदयद उदयाचलमिति । आटीकितामिति "ककुड् स्वकुड्" इत्यादिदण्डके टीकृधातुराङ्पूर्वं आटीकते स्म "गत्यर्थाकर्मकपिबभुजे." (सि० ५-१-११) क्तप्रत्ययः, इट् । गवौघमिति "स्वरे वानऽक्षे" (सि० १-२-२९) सस्वर-अव । अत्र रूपकोपमाश्लेषोदात्ताः ॥ ११ ॥

विश्रान्तेऽस्मिंस्तव गिरिवरे निःशलाकप्रदेशे
ध्यानासीन यमनियमधीधीरघोणाग्रदृष्टिम् ।
ताद्रूप्याप्तेरचलमचलस्येव सङ्गेन नाथं
वीक्ष्य स्थेयास्त्वमपि निभृतं तद्वदेवासमाधि ॥ १२ ॥

हे मेघ ! त्वमपि नाथ वीक्ष्य 'आसमाधि' समाधि यावत् 'तद्वदेव' भगवद्वदेव 'निभृत' निश्चल यथा भवति स्थेयाः, "समाधिस्तु तदेवार्थमात्राभासनरूपकम् ।" (अभि०चिन्ता० १-९५) इति समाधिरुत्कृष्टध्यानाङ्गम्, ततो भगवान् यावत् समाधि धृत्वा निभृतस्तिष्ठति तावत्त्वमपि निश्चलः स्थेयाः । किंरूप नाथम् ? अस्मिन् गिरिवरे 'निःशलाकप्रदेशे' एकान्तस्थाने 'ध्यानासीनं' ध्याने निविष्टम् । किंविशिष्टे गिरिवरे ? 'तव विश्रान्ते' त्वया विश्रम्यते यस्मिन्नित्यर्थः । पुनः किंरूपम् ? 'यमनियमधीधीरघोणाग्रदृष्टिं' यमा अहिंसादयो नियमाः शौचादयः तेषा धिया बुद्ध्या धीरा निश्चला घोणाग्रे नासिकाग्रे दृष्टिर्यस्य, पुनः कथभूतम् ? अचलम्, कस्माद्धेतोः ? उत्प्रेक्ष्यते-'अचलस्य' पर्वतस्य सङ्गेन 'ताद्रूप्याप्तेरिव' तद्रूपम् अचलरूप तस्य भावस्ताद्रूप्य तस्याप्तिः प्राप्तिस्तस्या हेतोः, एतावताऽचलस्य

सयोगात् किं भगवानप्यचलो जात इति। विश्रान्ते इत्यत्र विश्रम्यतेऽस्मिन्निति विश्रान्तं तत्र "अद्यर्थाच्चाधारे" (सि० ५-१-१२) क्तप्रत्ययः, "अहन्पञ्चमस्य०" (सि० ४-१-१०७) इति दीर्घः, "म्रा धुड्वर्गेऽन्त्यो पदान्ते" (सि० १-३-३९) म् न् धुट्। तवेति "क्तयोरसदाधारे" (सि० २-२-९१) इति सूत्रबलात् "कर्तरि" (सि० २-२-८६) इति षष्ठी। अत्रोत्प्रेक्षोपमानुप्रासाः ॥ १२ ॥

आपीयासौ शमसुखरसं संविदानन्दपूर्णो
यावद्धीमन्! भवति भगवान् किञ्चिदुन्मीलिताक्षः।
तावत्तस्य क्रमकमलयोः प्राप्य रोलम्बलीलां
शङ्कोऽक्लान्तः सुमृदुवचसा वाचयेर्वाचिकानि॥ १३ ॥

हे धीमन्! यावदसौ भगवान् किञ्चिदुन्मीलिताक्षो भवति, उन्मीलिते उद्घाटिते अक्षिणी येन स उन्मीलिताक्षः, "सक्थ्यक्ष्णः स्वाङ्गे" (सि० ७-३-१२६) समासान्तोऽन्प्रत्ययः, "अवर्णेवर्णस्य" (सि० ७-४-६८) इलोपः। किंरूपो भगवान्? शमसुखरस 'आपीय' पीत्वा संविदानन्दः चिदानन्दः तेन पूर्णः। त्व तावत्तस्य 'क्रमकमलयोः' चरणकमलयोः 'रोलम्बलीला' भ्रमरलीला प्राप्य 'सुमृदुवचसा' सुकोमलगिरा 'वाचिकानि' सदेशान् 'वाचये.' कथयेः। किंरूपस्त्वम्? 'शङ्कः' "शङ्क. प्रियंवदः" (पुनः) कथभूत.? 'अक्लान्तः' अखिन्न.। आपीयेति "पीङ्च् पाने" इति धातोः प्रयोगः। शङ्क इति "शकृट् शक्तौ" शक्, शक्नोतीति शङ्कः, "शामाश्याशकम्व्यमिभ्यो लः" (सि० उणा० ४६२) लप्रत्ययः, "शङ्कः मनोज्ञदर्शनः मधुरवाक्" (४६२ टीका) इत्याद्युणादिदर्शनात्। अत्र परिकरानुप्रासाद्याः ॥ १३ ॥

या स्वीकृत्य प्रथममनघा सर्वसीमन्तिनीनां
धुन्योघानामिव सुरधुनीशेन कोटीरिताऽभूत्।

खेदक्षाराम्बुनिधिसमिता दूरिताद्य त्वया सा
विज्ञप्तिं ते कलुषिततरा नेतरेवं विधत्ते ॥ १४ ॥

हे नाथ! 'ईशेन' स्वामिना या 'अनघा' निष्पापा प्रथम स्वीकृत्य सर्वसीमन्तिनीनां 'कोटीरिताऽभूत्' कोटीरः क्रियते स्मेति मुकुट-रूपा कृतेत्यर्थः । केव? 'सुरधुनीव' यथा सुरधुनी गङ्गा 'ईशेन' ईश्वरेण स्वीकृत्य 'धुन्योघाना' नदीसमूहाना मध्ये कोटीरिता शिर-स्यारोपितेति यावत् । हे नेत.! सा राजीमती 'ते' तव एव विज्ञप्तिं विधत्ते । किंरूपा सा? अद्य त्वया दूरिता सती 'खेदक्षाराम्बुनिधि-समिता' खेद एव शोक एव क्षाराम्बुनिधिस्तेन समिता मिलिता, अत एव 'कलुषिततरा' अतिशयेन कलुषिता परिणतदु खा, अन्याऽपि सुरधुनी ईश्वरशिरसो भ्रष्टा क्षारसमुद्रे मिलिताऽत्यर्थं कलुषिता आविला भवति । कोटीरः क्रियते स्म "णिज्बहुल०" (सि० ३-४-४२) णिच्प्रत्ययः, "त्र्यन्त्यस्वरादे." (सि० ७-४-४३) कोटीर्यते स्म क्तप्रत्ययः, इट्, "णेरनिटि" (सि० ४-३-८३) णिजूलोपः, एव दूरिता कलुषितेति ज्ञेयम् । (अत्र) दृष्टान्तयथा-सङ्ख्यापरिकरानुप्रासा. ॥ १४ ॥

यां क्षैरेयीमिव नवरसां नाथ वीवाहकाले
सारस्नेहामपि सुशिशिरां नाग्रहीः पाणिनाऽपि ।
सा किं कामानलतपनतोऽतीव बाष्पायमाणा-
ऽनन्योच्छिष्टा नवरुचिभृताऽप्यद्य न स्वीक्रियेत ॥१५॥

हे नाथ! वीवाहकाले त्व या 'सुशिशिरा' सुशीतला 'क्षैरेयीं' रसालामिव 'पाणिनाऽपि' करेणापि 'नाग्रही·' न गृहीतवान् । किंविशिष्टा याम्? 'नवरसा' नवो रस. शृङ्गारो माधुर्यरूपो वा यस्या सा ताम् । पुनः कथभूताम्? 'सारस्नेहामपि' सारः स्नेहो घृत प्रेम वा यस्याः । सा राजीमती क्षैरेयी अद्य कि न 'स्वीक्रियते' अङ्गीक्रियते?, किरूपा सा? कामानलतपनत· 'अतीव' अत्यर्थं

'बाष्पायमाणा' कामाग्नितापादत्यर्थं बाष्पमुद्वमन्ती, 'अनन्योच्छिष्टा' अन्यैरभुक्तेत्यर्थः । किंरूपेण त्वया ? 'नवरुचिभृताऽपि' नवा रुचिः कान्तिर्जिघत्सा वा ता विभर्तीत्येवभूत. तेन, यथाऽन्योऽपि बुभुक्षावान् शीतला क्षैरेयीं न भुङ्क्ते परमत्युष्णा क्षैरेयीं भुङ्क्ते तथा कामाग्नितप्ताया ममापि भोगे साम्प्रतमवसर इत्यर्थः । अत्रोपमाश्लेषविशेषोक्तयः ॥ १५ ॥

आसीः पश्चादपि यदि विभो! मां मुमुक्षुर्मुमुक्षुः
　भूत्वा तत्किं प्रथममुररीचर्करीषि स्वबुद्ध्या ।
सन्तः सर्वेऽप्यतरलतया तत्तदेवाद्रियन्ते
　यन्निर्वोढुं हरशशिकलान्यायतः शक्नुवन्ति ॥ १६ ॥

हे ('विभो!') नाथ! त्व पश्चादपि यदि 'मुमुक्षुः' मुनिः भूत्वा मा 'मुमुक्षुः' मोक्तुकाम आसी तत् प्रथम 'स्वबुद्ध्या' स्वजनबुद्ध्या कि 'उररीचर्करीषि' अत्यर्थमङ्गीकरोषि ?, सर्वेऽपि सन्तः 'अतरलतया' निश्चलतया तत्तदेव वस्तु 'आद्रियन्ते' प्रारभन्ते यद् हरशशिकलान्यायतः 'निर्वोढु' निर्वहणाय 'शक्नुवन्ति' समर्था भवन्ति, यथा हरेण ईश्वरेण शशिकला चन्द्रकला मस्तके स्थापिता कदापि न मुच्यते । उररी इति अङ्गीकारार्थे ऊर्यादौ, "ऊर्याद्यनुकरणच्विडाचश्च गतिः" (सि० ३—१—२) गतिसज्ञा । अत्रानुप्रासार्थान्तरन्यासनिदर्शनाद्याः ॥ १६ ॥

सत्रादत्राहृतमसुमतां वृन्दमानन्दसद्म
　ज्ञानाभावादपगुणमपि क्लेशनाशादकार्षीः ।
व्यक्तं भक्तं जनमिममथो मोदयस्यार्तिभाजं
　नो वाचाऽपि प्रसृमरकृप! च्छेक! कोऽयं विवेकः ? १७

हे नाथ! त्व 'असुमता' प्राणिना वृन्द क्लेशनाशात् 'आनन्दसद्म' हर्षपात्रमकार्षीः, किंरूप वृन्दम् ? 'सत्रात्' वनात् 'अत्र' पुरान्तः 'आहृत' आनीतम्, पुनः कथभूतम् ? ज्ञानाभावात् 'अपगुणमपि'

निर्गुणमपि । 'अथो' अनन्तर 'व्यक्त' दक्ष 'भक्त' सेवापर 'इम' मल्लक्षण जन 'अर्तिभाज' पीडायुक्त 'वाचाऽपि' वचनेनापि नो 'मोदयसि' हर्षयसि । हे 'प्रसृमरकृप!' प्रसृमरा प्रसरणशीला कृपा यस्य, हे 'छेक!' निपुण! अय को विवेक.?, अयमर्थ·—वनवासादपरिचिता. स्पष्टज्ञानाभावान्निर्गुणास्तिर्यञ्च. क्लेश स्फेटयित्वा प्रमोद्यन्ते, असौ निपुणो भक्तो लोकः समीपवर्ती आर्तो वचनेनापि न सतोष्यते,अय को विचार·? इत्यर्थः। अत्र विरोधानुप्रासाद्याः ॥१७॥

प्रागुद्वाहं स्वजनजनितेनाग्रहेणानुमेने
संचेरेऽन्तर्गुरुपरिजनं पीलुना चोपयन्तुम् ।
द्वारात्प्रत्यावृतदथ भवान् कूकदस्यापि शावो
गर्ध्येतैवं गुणगणनिधे! नो चतुर्हायणोऽपि ॥ १८ ॥

हे नाथ! भवान् प्राक् स्वजनजनितेनाऽऽग्रहेण 'उद्वाह' विवाहं 'अनुमेने' अभ्युपगतवान्, अन्तर्गुरुपरिजन 'पीलुना' हस्तिना 'उपयन्तु' परिणेतु 'सचेरे' चलति स्म, 'अथ' अनन्तर कूकदस्यापि द्वारात् 'प्रत्यावृतत्' पश्चाद्वलति स्म, "सत्कृत्यालङ्कृता कन्या यो ददाति स कूकदः।" (अभि० चिन्ता० ३—१३९) कूकदः श्वशुर इत्यर्थ.। हे गुणगणनिधे! एव 'चतुर्हायणोऽपि' चतुर्वर्षीयोऽपि ('शाव') बालक 'नो गर्ध्येत' नो वञ्च्येत यथाह वञ्चितेत्यर्थः। सचेरे इत्यत्र "समस्तृतीयया" (सि० ३—३—३२) इत्यात्मनेपदम्। 'अन्तर्गुरुपरिजन' गुरवः पूज्याः पित्रादिकाः परिजनः परिवारः तेषामन्तर् मध्ये "पारेमध्येऽग्रेऽन्तः षष्ठ्या वा" (सि० ३—१—३०) इति समासः। प्रत्यावृतदित्यत्र "शुद्भ्योऽद्यतन्याम्" (सि० ३—३—४४) अनेनात्मनेपदनिषेधः। गर्ध्येतेति "गृधौच् अभिकाङ्क्षायाम्" गृध्। चत्वारि हायनानि यस्यासौ चतुर्हायणः "चतुस्त्रेर्हायनस्य वयसि" (सि० २—३—७४) नस्य णत्वम्। अत्र दीपकानुप्रासाद्या· ॥ १८ ॥

पित्र्यः सोऽयं तव मुररिपुः सुन्दरीणां सहस्रैः
लीलागारेऽनुपरततरः सन्ततं रंरमीति।
ऊरीकर्तुं क्षणमुदसहस्त्वं तु नैकामपीदृक्-
सामर्थ्येऽपि प्रकृतिमहतां कोऽथवा वेत्ति वृत्तम् ॥ १९ ॥

हे नाथ! अय 'मुररिपुः' मुरारिः तव 'पित्र्यः' ज्येष्ठभ्राता 'सुन्दरीणां' स्त्रीणां सहस्रैः 'लीलागारे' क्रीडागारे 'सन्ततं' निरन्तरं 'रंरमीति' अत्यर्थं रमते, किंरूपः पित्र्यः ? 'अनुपरततरः' अत्यर्थमनिवृत्तः । 'तु' पुनस्त्वं 'ईदृक्सामर्थ्येऽपि' ईदृक्समर्थत्वेऽपि सति एकामपि सुन्दरीं 'ऊरीकर्तुं' अङ्गीकर्तुं क्षणं न'उदसहः' उत्सहसे स्म। अथवा 'प्रकृतिमहतां' स्वभावगरिष्ठानां पुरुषाणां 'वृत्तं' चरित्रं को वेत्ति? अपि तु न कोऽपि वेत्ति । अथवा प्रकृष्टाः कृतिनो दक्षास्तेषु महताम्, एतावता अत्यन्तगाढतरचतुराणामत्यन्तचतुरत्वमपि लोके उपहासायेति व्यङ्ग्यम् । पितुस्तुल्यः पित्र्यः "शाखादेर्यः" (सि० ७-१-११४) इति यप्रत्ययः, "ऋतो रस्तद्धिते" (सि० १-२-२६) ऋ रः । 'उदसहः' इत्यत्र "युजादेर्न वा" (सि० ३-४-१८) अनेन णिज्विकल्पः । अत्र विरोधार्थान्तरन्यासानुप्रासाद्याः ॥१९॥

श्रीमानर्हन्नितरजनवन्मन्मथस्य व्यथाभिः
किं बाध्येतेत्यखिलजनतां मा रिरेकाम कामम्।
ध्यात्वैवं चेत्तपसि रमसे तत्प्रतिज्ञातलोपे
कस्तामत्र त्रिभुवनगुरो! रेकमाणां निषेद्धा? ॥ २० ॥

हे नाथ! त्वमेवं बुद्ध्वा (चेत्) तपसि रमसे, एवमिति किम्? वयं 'अखिलजनतां' समस्तजनसमुदायं 'कामं' अत्यर्थं इति 'मा रिरेकाम' शङ्कां नो कारयामः, इतीति किम्? श्रीमान् अर्हन् इतरजनवत् 'मन्मथस्य' कामस्य 'व्यथाभिः' पीडाभिः किं 'बाध्येत' पीड्येत ?, यद्यहं पाणिग्रहणं करिष्यामि तदा सर्वे जनाः शङ्कां करिष्यन्ति यदर्हन्तोऽपि प्राकृतलोकवत् कामेन किं बाध्यन्ते? अतः

पाणिग्रहण त्यक्त्वा तपसि रेमे । 'तत्' तदा हे त्रिभुवनगुरो ! अत्र 'प्रतिज्ञातलोपे' अङ्गीकृतपरित्यागे 'ता' जनता 'रेकमाणा' शङ्कमाना को 'निपेद्धा' निपेत्स्यति ? अयमर्थ —यदि पूर्वशङ्कानिराकरणाय पाणिग्रहण मुक्त तदापि अङ्गीकृत प्रतिज्ञात पाणिग्रहण मुक्त्वा तपो लास्यसि तदापि लोक. शङ्का करिष्यति यन्महान्त कि प्रतिज्ञा-लोप कुर्वन्ति ? । अत्र मा रिरेकाम इति "रेकृङ् शङ्कायाम्" रेकृ, रेकमाणा प्रायुङ्क्ष्महि "प्रयोक्तृव्यापारे णिग्" (सि० ३–४–२०) णिग्, "अद्यतनी दि ताम् अन्०" (सि० ३–३–११) इति म, माङ्योगेऽड्निषेधः, "णिश्रिद्रुस्रुकम· कर्तरि०" (सि० ३–४–५८) ङप्रत्यय., "आद्योऽश एकस्वर" (सि० ४–१–२) रे द्विः, "ह्रस्वः" (सि० ४–१–३९) रि, "णेरनिटि" (सि० ४–३–८३) णिग्लोप·, "लोकात्" (सि० १–१–३) क सस्वरमव्यस्याः आकार इति मा रिरेकामेति सिद्धम् । अत्र व्यतिरेकोपमानुप्रासाद्याः ॥२०॥

तारुण्येऽपि प्रभवति यदि ध्वस्तवैराग्यरङ्गे
नीरागोऽसीत्यविकृतधिया कामभोगानहासीः ।
तत्किं पात्रेसमितजनतापङ्क्तिभीतेन शङ्ख-
स्वानात् क्षोभः पुरि हरिभुजामोटनं च व्यधायि ?॥२१॥

हे नाथ ! यदि त्वमिति 'अविकृतधिया' निर्विकारबुद्ध्या काम-भोगान् 'अहासीः' अत्याक्षी·, इतीति किम् ? अह तारुण्येऽपि 'प्रभवति' प्रौढीभवति सति 'नीरागोऽसि' ससाररागरहितो वर्ते, किरूपे तारुण्ये ? 'ध्वस्तवैराग्यरङ्गे' ध्वस्तो विनाशितो वैराग्यस्य रङ्गो येनासौ ध्वस्तवैराग्यरङ्गस्तस्मिन् । 'तत्' तदा त्वयेत्यसदप्या-क्षिप्यते 'शङ्खस्वानात्' शङ्खनादात् 'पुरि' नगर्या 'क्षोभ.' आकम्पः 'हरिभुजामोटन च' हरिः कृष्णस्तस्य भुजस्यामोटन वालन च 'किं व्यधायि ?' कथ चक्रे ?, किंविशिष्टेन त्वया ? 'पात्रेसमितजनता-पङ्क्तिभीतेन' य· पराक्रमरहितः केवल भोजनवेलायामेव पात्रेषु

न्यस्तेषु (समेति) मिलति स पात्रेसमित कथ्यते, पात्रेसमिता पौरुषरहिता जनता तस्याः पङ्क्तेर्भीतेन यद्यहं कश्चित्पराक्रम न कलयिष्यामि तदा लोको भोजनसमर्थानामेव जनाना पङ्क्तौ मा स्थापयिष्यतीति । अतो यदि त्वमेकान्तेन नीरागो वर्तसे तदा त्वया शङ्खपूरण कृष्णबाहुमोटन च कथ क्रियते स्म ?, यदि तत् पौरुषप्रकाशनार्थं कृतं तदा पाणिग्रहणमपि क्रियतामित्यर्थः । पात्रेसमित इत्यत्र "पात्रेसमितेत्यादयः" (सि० ३–१–९१) इत्यलुक्समासः । अत्र समासोक्तिसमुच्चयानुप्रासाः ॥ २१ ॥

मुग्धं स्निग्धं स्मितमतिजवं रिङ्खणं यत्र तत्र
प्रेक्षाचित्रं भुवि विलुठनं बन्धनं रिक्तमुष्टेः ।
उत्तानत्वे करचरणनं प्रोक्तमव्यक्तवर्णं
यानं पद्भ्यामनृजु शनकैर्यत्तदाकृष्टिकाङ्क्षा ॥ २२ ॥
आहूतस्याभिमुखमुभयापाणि दूरेण यानं
कण्ठाश्लेषः प्रणयिनि हठात् स्थानमङ्के जनन्याः ।
कूर्चाकर्षः पितुरिति कुतः प्राकृतार्भानुरूपं
दिव्यज्ञानत्रितयकलितोऽचेष्टथाश्चेदरागः॥२३॥युग्मम्॥

हे नाथ ! 'चेत्' यदि त्व 'अरागः' वीतरागो वर्तसे तदा इति 'प्राकृतार्भानुरूप' प्राकृताः सामान्या अर्भा बालकास्तेषामनुरूप योग्य यथा भवति दिव्यज्ञानत्रितयकलित सन् त्व कुत. 'अचेष्टथाः' चेष्टसे स्म ?, इतीति किम् ? 'मुग्ध' मनोज्ञ 'स्निग्ध' स्नेहयुक् 'स्मित' हास्यम्, 'अतिजव रिङ्खण' अत्यन्तवेग रिङ्खण बालगत्या गमनम्, 'यत्र तत्र' अभिमुखे यस्मिन् तस्मिन् पदार्थे 'प्रेक्षाचित्र' वीक्षणकौतुकम्, 'भुवि विलुठन' पृथिव्या लोटनम्, 'रिक्तमुष्टे.' अन्तर्वस्तुविकलाया मुष्टेर्बन्धनम्, 'उत्तानत्वे' उत्तानभावे 'करचरणन' करचरणयोः क्षेपणम्, अव्यक्तवर्ण 'प्रोक्त' जल्पनम्, पद्भ्या 'अनृजु' वक्र 'शनकैः' मन्द मन्द 'यान' गमनम्, 'यत्तदाकृष्टिकाङ्क्षा'

यत्तद्वस्त्वाकर्षणवाञ्छा, 'उभयापाणि अभिमुखमाहूतस्य दूरेण यान' उभयाभ्यां पाणिभ्या सम्मुखमाकारितस्य दूर गमनम्, 'प्रणयिनि' स्निग्धे जने हठात् 'कण्ठाश्लेषः' कण्ठे विलगनम्, जनन्या 'अङ्के' उत्सङ्गे स्थानम्, पितुः 'कूर्चाकर्षः' स्पष्टम् । अत्र करचरणन कर-चरणौ निरस्यति "अङ्गान्निरसने णिङ्" (सि० ३–४–३८) णिङ्प्रत्ययः, "अन्त्यस्वरादेः" (सि० ७–४–४३) अन्त्यस्वरलोपः, करचरण्यते स्म करचरणनम्, क्लीबे "अनट्" (सि० ५–३–१२४) अनट्प्रत्ययः, "णेरनिटि" (सि० ४–३–८३) णिङ्लोप· । उभयाभ्या पाणिभ्या उभयापाणि "द्विदण्ड्यादिः" (सि० ७–३–७५) णिच्प्रत्ययः, उभयापाणि इति निपातः । अत्र जातिमसु-च्चयसमासोक्त्यनुप्रासाद्याः ॥ २२ ॥ २३ ॥

> एतत्सर्वं गुरुजनमनोमोदनार्थं यदि त्वं
> तत्त्वं विन्दुः स्वयमकुटिलं स्वीचकर्थ प्रकामम् ।
> इत्थङ्कारं कतिचन समा मन्मुदे दारकर्म
> स्वीकृत्यैतत् किमुपजरसं नो तपस्तप्यसे स्म ॥ २४ ॥

हे नाथ ! यदि त्व 'एतत्सर्वं' पूर्वकाव्यद्वयोक्त बालक्रीडाका-रणकलाप 'गुरुजनमनोमोदनार्थं' गुरव· पितृमात्रादयो गुरुजनाः तेषा मनोहर्षार्थं 'स्वयम्' आत्मना 'अकुटिल' सरल यथा भवति 'प्रकाम' अत्यर्थ 'स्वीचकर्थ' अङ्गीकृतवान् । किंविशिष्टस्त्वम् ? 'तत्त्व विन्दुः' परमार्थं विदन् 'इत्थङ्कार' त्व इत्थ अनेन प्रकारेण कृत्वा 'कतिचन समाः' कतिचन वर्षाणि 'मन्मुदे' मम हर्षाय 'दारकर्म' विवाहं स्वीकृत्य 'उपजरस' जराया· समीपे एतत्तपः किं न तप्यसे स्म ? । अय भावः—यथा स्मितादिका बालक्रीडा गुरुजनहर्षाय कृता एवं मम हर्षाय पाणिग्रहण कृत्वा पश्चाद्यदि तपस्तप्त स्यात्तदा भव्यमकरिष्यः । विन्दुरिति "विदक् ज्ञाने" विद् वेत्तीति विन्दुः "विन्द्विच्छू" (सि० ५–२–३४) उप्रत्यये विन्दुरिति निपातः ।

अस्व स्वं चकर्थ स्वीचकर्थ "कृभ्वस्तिभ्यां कर्मकर्तृभ्या प्रागतत्तत्त्वे च्विः" (सि० ७–२–१२६) च्विप्रत्ययः, "अप्रयोगीत्" (सि० १–१–३७) च्विलोपः, "ईश्चावर्णस्यानव्ययस्य" (सि० ४–३–१११) ईकारः, कृधातो परोक्षा–थवि चकर्थेति । इत्थ-कारमिति इद अनेन प्रकारेण इत्थम् "कथमित्थ" (सि० ७–२–१०३) इति इत्थ निपातः, इत्थ कृत्वा इत्थङ्कारम्, "अन्यथैवकथमित्थमः कृगोऽनर्थकात्" (सि० ५–४–५०) णम्प्रत्ययः, "नामिनोऽ-कलिहलेः" (सि० ४–३–५१) वृद्धिः । उपजरस जरायाः समीपे उपजरसम् "जराया जरस् च" (सि० ७–३–९३), "समासान्तः" (सि० ७–३–६९) अत्प्रत्यय, जरास्थाने जरस् आदेशः, सप्तमी ङिः "सप्तम्या वा" (सि० ३–२–४) इति अम् । तप्यसे स्म इति "तपेस्तपःकर्मकात्" (सि० ३–४–८५) इति-सूत्रेण कर्तरि क्यप्रत्यय आत्मनेपद च । अत्रानुप्रासससमाद्या ॥२४॥

त्रैलोक्येशः प्रथितमहिमा चारुचक्षुष्यरूप–
स्तुल्योन्मीलद्गुणविकलया जातु मा मीमिले स्वम् ।
एवं बुद्ध्वा तपसि वदसे यत्कृते मुक्तिकान्तां
तां मन्येथा अपगुणतया दर्शनस्याप्यनर्हाम् ॥ २५ ॥

हे नाथ ! त्व एव बुद्ध्वा यत्कृते तपसि 'वदसे' यत्न कुरुषे यस्या मुक्तेः कृते, एवमिति किम् ? अहमनया 'जातु' कदाचित् स्व 'मा मीमिले' मा इति निषेधे न मेलयामीत्यर्थः।किंविशिष्टोऽहम् ? 'त्रैलोक्येशः प्रथि-तमहिमा' इति स्पष्टम्, पुनः किंरूपोऽहम् ? चारु मनोज्ञ चक्षुष्यं सुभग रूप यस्य सः । किंरूपयाऽनया ? 'तुल्योन्मीलद्गुणविकलया' तुल्या अधिकारादात्मनः सदृशा उन्मीलन्तो विकसन्तो ये गुणास्तैर्विक-लया रहितया असौ मम गुणैर्न तुल्येति मा मुक्त्वा यस्या मुक्तेः कृते तपसि वदसे 'ता' मुक्तिकान्ता 'अपगुणतया' निर्गुणतया दर्शन-स्यापि 'अनर्हां' अयोग्या मन्येथाः, सा निर्गुणतया द्रष्टुमप्ययोग्या ।

पक्षे गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि ते मुक्तौ न वर्तन्ते, ततोऽपगुणाऽरूपतया दर्शनाऽयोग्येत्यर्थः । मा मीमिले "मिलन् श्लेषणे" मिल् मिलन्त प्रयुङ्क्ते "प्रयोक्तृव्यापारे णिग्" (सि० ३–४–२०) णिग्, "नामिनो गुणोऽक्ङिति" (सि० ४–३–१) गुणः मे, "माङ्यद्यतनी" (सि० ५–४–३९) इतिसूत्रेण अद्यतनी इ, "णिश्रिद्रुस्रुकमः कर्तरि०" (सि० ३–४–५८) ङप्रत्ययः, "उपान्त्यस्यासमानलोपि शास्वृदितो ङे" (सि० ४–२–३५) ह्रस्वः मि, "आद्योऽश एकस्वरः" (सि० ४–१–२) मि द्वि , "लघोर्दीर्घोऽस्वरादेः" (सि० ४–१–६४) दीर्घः मी, "णेरनिटि" (सि० ४–३–८३) णिग्लोपः, लोकात् "अवर्णस्येवर्णा०" (सि० १–२–६) इति सिद्धम् । वदसे इत्यत्र "दीप्तिज्ञानयत्नविमत्युपसम्भाषोपमन्त्रणे वदः" (सि० ३–३–७८) इत्यात्मनेपदम् । अत्र विषमानुप्रासश्लेषव्याजस्तुत्यलङ्काराः ॥ २५ ॥

प्रागानन्त्यैर्नृभिररमि या निर्गुणा चाकुलीनाऽ-
दृश्याङ्गश्रीरभिजनघनोच्छेदिनी रागरिक्ता ।
सक्तस्तस्यां सकलललना निर्वृतीत्याख्ययैवाऽ-
भीकोत्तंसस्त्यजसि यदि तत्संसृतौ न स्थितिस्ते ॥२६॥

'या' मुक्तिकान्ता प्राग् 'आनन्त्यैः' अनन्तैः 'नृभिः' पुरुषैः 'अरमि' रमयामासे, किंरूपा या ? 'निर्गुणा' लावण्यादिगुणरहिता 'अकुलीना' न सुकुलोत्पन्ना, पुनः कथंभूता ? 'अदृश्याङ्गश्रीः' द्रष्टुमयोग्या अङ्गस्य देहस्य श्रीः शोभा यस्याः,पुनः अभिजन गोत्रं घनं शरीरं च उच्छिनत्तीत्येवंशीला, पुनः 'रागरिक्ता' रागविवर्जिता एवंविधा कान्ता सदूषणा भवति, पक्षे या मुक्तिः प्राग् आनन्त्यैर्नृभिः सिद्धरूपैः अरमि अनन्तसिद्धाना तत्र स्थितत्वात्, निर्गुणा सत्त्वादिगुणत्रयविकला, अकुलीना, अदृश्या अङ्गश्री अङ्गशोभा यस्यां सा, मुक्तेः शिलारूपत्वाद्विशिष्टाङ्गोपाङ्गाभावः, अभिजनघनोच्छेदिनीति मुक्तौ

प्राप्तया गोत्रं शरीरं च व्यवच्छिद्यते, सिद्धानामशरीरत्वात् । राग-रिक्तेति स्पष्टमेव । हे नाथ ! यदि त्वं निर्वृतीत्याख्ययैव तस्यां सक्तः सन् सकलललनास्त्यजसि, मुक्तेर्निर्वृतिनाम, निर्वृतिस्तु समाधिः कथ्यते, अतस्तेन नाम्नैवानुरक्तः सन् सर्वस्त्रीः परिहरसि तत् 'ते' तव 'संसृतौ' संसारे 'न स्थितिः' न स्थानं वर्तते मुक्तावेवेत्यर्थः, एवमुक्ते निन्दास्तुतिर्ज्ञेया । किंविशिष्टस्त्वम् ? 'अभीकोत्तंसः' अभी-काः कामिनस्तेषामुत्तंसो मुकुटः, यतस्त्वं निर्गुणायामपि तस्यामनु-रक्तोऽतो गाढतरः कामीति । पक्षेऽभीका निर्भयास्तेषामुत्तंसः । आनन्त्येति अनन्ता एव आनन्त्याः "भेषजादिभ्यष्ट्यण्" (सि० ७–२–१६४) ट्यण्प्रत्ययः य इति "वृद्धिः स्वरेष्वादेः" (सि० ७–४–१) वृद्धिः । अरमीति रममाणा प्रयुज्यते स्म णिग् "ञ्णिति" (सि० ४–३–५०) वृद्धिः रा, "अमोऽकम्यमिचमः"(सि० ४–२–२६) ह्रस्वः, अद्यतनी त इति । अत्र व्याजस्तुतिश्लेषाद्याः ॥ २६ ॥

वैरुद्ध्यं चेन्मनसि मनुषे स्त्रीषु तत् किं न पौंस्ने
त्वं भद्राम्भोनिधिरपि गलत्पञ्चभद्रत्वमुद्रः ।
सर्वत्रैषा यदि तव पुरोभागितैवाथ युक्ता
शीर्षच्छेद्या अपि तदपि वै सूरतानामवध्याः ॥ २७ ॥

हे नाथ ! त्वं चेत् 'स्त्रीषु' स्त्रीविषये मनसि वैरुद्ध्यं 'मनुषे' जानासि, विरुद्धस्य भावो वैरुद्ध्यम्, स्त्रियो मायातुच्छ-तादिदोषैर्विरुद्धा इति जानासि इत्यर्थः, तत् पौंस्ने वैरुद्ध्यं किं न मनुषे ?, पुंसां समूहे पौंस्ने, अतः पुंसोऽपि विरुद्धान् किं न जानासि ?, पुमांसोऽपि विरुद्धा विषमाचारा इत्यर्थः । वैरुद्ध्यमेव पुरुषेष्वपि युक्त्या स्पष्टयति–त्वं 'भद्राम्भोनिधिरपि' भद्राणां कल्या-णानां समुद्रोऽपि पञ्चसङ्ख्यानि भद्राणि पञ्चभद्राणि, पञ्चभद्राणां भावः पञ्चभद्रत्वम्, तस्य मुद्रा मर्यादा पञ्चभद्रत्वमुद्रा, गलन्ती

च्यवमाना पञ्चभद्रत्वमुद्रा यस्य सः, यो भद्राणा समुद्रः एतावता सर्वभद्राणां स्थान भवति तस्य पञ्च भद्राणि कथ गलन्तीति विरोधः। अथ विरोधपरिहारमाह—त्व भद्राम्भोनिधिरपि गलत्पञ्चभद्रत्वमुद्रः, पञ्चभद्रस्तु विप्लुतव्यसनीत्यर्थः,तस्य भावः पञ्चभद्रत्वं व्यसनित्वम्, गलन्ती पञ्चभद्रत्वमुद्रा यस्य सः, एतावता त्व व्यसनी न वर्तसे निर्विकारोऽसीत्यर्थः । 'अथ' अनन्तर यदि तव सर्वत्रैषा पुरोभागितैव युक्ता, "दोषैकदृक् पुरोभागी" (अभिधान० ३–४४) यो गुणान्मुक्त्वा केवल परस्य दोषानेव पश्यति स पुरोभागी कथ्यते, अतस्त्वमपि स्त्रीषु गुणान्मुक्त्वा केवलान् दोषानेव पश्यसीत्यर्थः, अथवा तव सर्वत्र पुरोभागितैव अग्रेसरतैव युक्ता तदपि 'वै' निश्चित 'सूरताना' कृपालूना 'शीर्षच्छेद्याः' वधार्हा अपि 'अवध्याः' अघात्याः । अयमर्थः—यद्यपि सदोषत्वेन दण्डयोग्याः स्मः तदापि दयालूना वध्या न भवामः किन्तु अनुकम्प्या एव । पौंस्ने इति पुसा समूहः पौंस्नम् "प्राग्वतः स्त्रीपुंसान्नञ्स्नञ्" (सि० ६–१–२५) स्नञ्प्रत्ययः, "वृद्धिः स्वरेष्वादिः" (सि० ७–४–१) वृद्धिः पौं, "पदस्य" (सि० २–१–८९) सलोपः, "शिड्ढेऽनुस्वार." (सि० १–३–४०) अनुस्वारः । शीर्षच्छेदमर्हन्ति शीर्षच्छेद्याः "शीर्षच्छेदाद् यो वा" (सि० ६–४–१६४) यप्रत्ययः, "अवर्णेवर्णस्य" (सि० ७–४–६८) अवर्णस्य लोपः । अत्र विरोधश्लेषाद्याः ॥ २७ ॥

कामः कामं विषमविशिखैरेष जेघीयते यत्
यद्वा मन्युः परिभवभवो मां सपत्राकरोति ।
निर्वीराऽसौ तदहमबलाऽस्मासहिः पापतिश्चेत्
निश्चैतन्यान्नवतिपुरुषीं खातिकां स्याचदा किम् ? ॥२८॥

हे नाथ ! यद् एष कामः 'कामं' अत्यर्थं 'विषमविशिखैः'

विषमबाणैः 'जेघ्नीयते' अत्यर्थं हन्ति, 'यद्वा' अथवा 'परिभवभव' पराभवोत्पन्नः 'मन्युः' क्रोधो मा 'सपत्राकरोति' अत्यन्त व्यथते, तद् 'असौ' अह 'चेत्' यदि 'असासहिः' अमर्षशीला सती 'निश्चैतन्यात्' अचेतनावस्थात 'नवतिपुरुषीं' नवतिपुरुषप्रमाणा खातिकां 'पापतिः' पतनशीला स्या तदा किं स्यात्?, एतावताऽतीवासदृशं भवेदित्यर्थः । किंरूपाऽहम्? 'निर्वीरा' निष्पतिसुता (तथा 'अबला' बलरहिता) अतो मम सारा कर्तुं युक्तेति रहस्यम् । अत्र सपत्राकरोतीति सपत्र अग्रे कृग् "सपत्रनिष्पत्रादतिव्यथने" (सि० ७–२–१३८) डाप्रत्ययः । असासहि. पापति इति "षहि मर्षणे" षह्, धात्वादे. ष· स. सह्, "पत्ल पथे गतौ" पत्, भृश पुनः पुनर्वा सहते पततीति "व्यञ्जनादेकस्वराद् भृशाभीक्ष्ण्ये यङ् वा" (सि० ३–४–९) यङ्प्रत्ययः, "सन्यङश्च" (सि० ४–१–३) द्विः, "आगुणावन्यादे." (सि० ४–१–४८) आ, सासह्यते पापत्यते इत्येवशीला "डौ सासहिवावहिचाचलिपापतिः" (सि० ५–२–३८) डिप्रत्यये सासहिः पापतिरिति निपातः, न सासहिरसासहिः । निश्चैतन्यादिति चैतन्यस्याभावो निश्चैतन्यम् "विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासम्प्रतिपश्चात्क्रमख्यातियुगपत्सदृक्सम्पत्साकल्यान्तेऽव्ययम्" (सि० ३–१–३९) अनेन सूत्रेणाभावे निर्मक्षिकवदव्ययीभाव· समासः, पञ्चमी ङस् "अमव्ययीभावस्यातोऽपञ्चम्याः" (सि० ३–२–२) इत्यत्र पञ्चमीवर्जनात् ङसेरम् न । नवतिः पुरुषाः प्रमाण यस्या. सा नवतिपुरुषी "हस्तिपुरुषाद्वाऽण्" (सि० ७–१–१४१) अण्प्रत्यय·, "मानादसंशये लुप्" (सि० ७–१–१४३) अण्लोप·, "पुरुषाद्वा" (सि० २–४–२५) ङीप्रत्ययः । अत्रानुप्रासहेत्वतिशयोक्त्याद्या ॥ २८ ॥

कर्पूं कर्पूमिव निवसितं सद्दुकूलं कुकूलं
ग्लावं दावं नलिनमलिनं भूषणं त्र्यूषणं वा ।

सर्वं सर्वंङ्कषविषमसौ मन्यतेऽनन्यनेमौ
नेमौ नेमौ भवति भवति स्पष्टमाशालतायाः ॥ २९ ॥

हे नाथ! 'असौ' राजीमती 'कर्षूं' नदीं 'कर्षूमिव' अङ्गारपरिखामिव मन्यते, एतावता शीतलाऽपि नदी तस्या विरहतापप्राचुर्यादङ्गारपरिखाप्राया भवतीति, सर्वत्रापि विरहतापप्राबल्यमेव हेतुः। तथा 'निवसित' परिहित 'सत्' प्रधान 'दुकूल' क्षौमं 'कुकूल' तुषानलं मन्यते, 'ग्लाव' चन्द्र दावम्, 'नलिन' कमल 'अलिन' वृश्चिक पीडाकृत्त्वात्, वा इवार्थे, 'भूषण' आभरण 'त्र्यूषण' त्रिकटु मन्यते इति सर्वत्र सम्बन्धः, यथा त्रिकटु भक्षित तीव्रत्वाद्व्यथाकृद्भवति तथा आभरणमपि विरहेणाप्रियत्वाद्व्यथाकारीति, किं बहुना? 'सर्वं' पुष्पताम्बूलखाद्यस्वाद्यादि सर्वङ्कषविष मन्यते सर्वं कषति हिनस्तीति सर्वङ्कष सर्वघातकमित्यर्थ. । क सति? 'भवति' त्वयि 'नेमौ' नेमिनाथे 'स्पष्ट' प्रकटम् आशालताया 'नेमौ' चक्रधाराया 'भवति' जायमाने सति, किंविशिष्टे भवति? 'अनन्यनेमौ' नान्यान्नमतीत्येवशीलस्तस्मिन्, तीर्थङ्कराणा त्रिभुवननम्यत्वादन्यः कोऽपि नम्यो नास्तीति। नेमिरिति नामग्रहणेन त्वा विनाऽन्यः कोऽपि विरहतापे कारण नास्ति किन्तु त्वमेवेति ज्ञापनार्थम्। सर्वङ्कषेति "कष हिंसायाम्" सर्वं कषतीति "सर्वात्सहश्च" (सि० ५-१-१११) खल्प्रत्ययः, "खित्यनव्ययारुषोर्मोऽन्तो ह्रस्वश्च" (सि० ३-२-१११) इति मोऽन्तः । अनन्यनेमाविति "णमं प्रह्वत्वे" णम् पाठे नम्, भृश पुन पुनर्वा नमति "व्यञ्जनादेकस्वराद् भृशाभीक्ष्ण्ये यङ् वा" (सि० ३-४-९) यङ्, द्वित्वम्, "मुरन्तोऽनुनासिकस्य" (सि० ४-१-५१) इति मुआगमः, न अन्य ननम्यते इत्येवशील. "सस्निचक्रिदधिजज्ञिनेमिः" (सि० ५-२-३९) इति डिप्रत्यये नेमिरिति पदम्। अत्रोपमारूपकसमुच्चयातिशयोक्तिदीपकानुप्रासाद्याः ॥ २९ ॥

अध्यारोप्य द्विरसनसनानन्द्यमादीनवं मां
दीनां किञ्चिद्दवयसि यदि प्राणितेशोचितं तत् ।
कौलीनाङ्कं ध्रुवमितरथा लप्स्यसे लोकनाथ !
व्याजान्नाना ननु तनुमतां नो निहन्त्यर्कजोऽपि ॥३०॥

'हे प्राणितेश' हे जीवितव्यनाथ ! यदि त्व मां किञ्चित् 'आदीनव' दोषमध्यारोप्य 'दवयसि' परितापयसि तत् 'उचित' योग्यम्। अयमर्थः—इय राजीमती अनेन कुरूपकुवादिकुशीलादिदोषेण दुष्टाऽस्ति अतस्त्यज्यते इत्यर्थः । किरूपमादीनवम् ? 'द्विरसनसनानन्द्य' द्विरसनैः दुर्जनैः सना सर्वदा नन्द्य श्लाघ्यम्, दुर्जना यं दोषमुच्चरन्तस्तिष्ठन्ति । हे लोकनाथ ! 'इतरथा' अन्यथा 'कौलीनाङ्क' कौलीनम् अपवादः तदेव अङ्कं लाञ्छन 'लप्स्यसे' प्राप्स्यसि, अनेन निर्दूषणा सती परिणीय त्यक्तेति ध्रुवमनुचित इति । अत्र दृष्टान्तमाह—नन्विति वितर्के, 'व्याजात् नाना' व्याजं मिष नाना विना, 'अर्कजोऽपि' यमोऽपि 'तनुमता' प्राणिना नो निहन्ति, एतावता यमोऽपि केनचिन्मिषेणैव जन्तून् हन्ति, यथाऽस्य ज्वरश्चटित मूढविसूचिका सन्निपातो वा जातः तेन मृत इति, एवं त्वमपि यदि किञ्चिद्दूषण प्रकाश्य मा त्यजसि तदा लोके प्रवादं न लभस इति भावः । अध्यारोप्येति "रुह् जन्मनि" अधिआङ्पूर्वः, अध्यारोहन्त प्रयुङ्क्ते "प्रयोक्तृव्यापारे णिग्"(सि० ३–४–२०) णिग् "लघोरुपान्त्यस्य" (सि०४–३–४) गो, "रुहः पः" (सि० ४–२–१४) हकारस्य पकार , अध्यारोपण पूर्वं "प्राक्काले" (सि० ५–४–४७) क्त्वाप्रत्ययः, "अनञः क्त्वो यप्" (सि० ३–२–१५४) यप्रत्ययः । दवयसीति दव ददासीति "णिज्बहुलं नाम्नः०" (सि० ३–४–४२) णिच्प्रत्ययः । व्याजान्नानेति "पृथग्नाना पञ्चमी च" (सि० २–२–११३) इति पञ्चमी । तनुमतामित्यत्र निपूर्व–हन्तेर्योगे "निप्रेभ्यो घ्नः"(सि०२–२–१५) इतिसूत्रेण कर्मविकल्पात् षष्ठी । अत्रानुप्राससमदृष्टान्ताद्याः ॥३०॥

नो प्रत्यक्षानुमितिसमयैर्लक्ष्यमाणः प्रमाणैः
त्यागं कुर्वन्नसुखमपुपस्तावदुच्चैर्ममेश ! ।
संस्कारेण स्मृतिमुपगतः क्लेशदेष्टाऽसि यावत्
निष्प्रामाण्या स्मृतिरिति गदन्नक्षपादो न दक्षः ॥ ३१ ॥

हे नाथ ! 'अक्षपादः' नैयायिकगुरुः न दक्षः, किं कुर्वन् ? स्मृतिः 'निष्प्रामाण्या' निर्गतं प्रामाण्यं प्रमाणत्वं यस्याः सा, एतावता स्मरणमप्रमाणमिति ('गदन्') वदन्, अक्षपादमते हि स्मरणमप्रमाणं कथ्यते। यतस्ते एवमनुमानयन्ति—स्मरणज्ञानमप्रमाणम्, अन्यत्रान्यत्रान्यस्यानुभूयमानत्वात्, विपर्ययज्ञानवत्, यथा शुक्तिकाशकले कलधौतमिदमिति ज्ञानमप्रमाणम्, तथा स्वप्नज्ञानमपि न प्रमाणं कथयन्ति तस्मादेव हेतोः, यतः—"जन्मन्येकत्र भिन्ने वा, तथा कालान्तरेऽपि वा । तद्देशे चान्यदेशे वा, स्वप्नज्ञानस्य गोचरः ॥१॥" इति । ततो राजीमती स्मरणस्य प्रामाण्यं स्थापयन्ती तद्दक्षत्वं दूषयति, कथम् ? आह—नो प्रत्यक्षेति 'ईश' हे स्वामिन् ! त्वं प्रत्यक्षानुमितिसमयैः प्रमाणैः त्यागं कुर्वन् लक्ष्यमाणः तावत् 'उच्चैः' अतिशयेन मम 'असुखं' दुःखं 'नो अपुषः' न पुष्टवान्, एतावता किमुक्तं भवति ? यदा पाणिग्रहणार्थं तोरणमागत्य प्रत्यावृत्तः तदा मया गवाक्षस्थितया प्रत्यक्षप्रमाणेन त्यागं कुर्वन् लक्षितः, यदा तु वादित्रेषु वाद्यमानेषु देवदानवमानववृन्दानुगम्यः प्रव्रज्यायै गिरिनारं गतस्तदाऽनुमानप्रमाणेन ज्ञातम्—अथाहं त्यक्तैव, यतो यो यो दीक्षाग्राही स स कान्तापरिहारकारी, निःसङ्गत्वात्, यथा वृषभादिः, दीक्षाग्राही चायम्, तस्मात्कान्तापरिहारकार्येवेत्यनुमानम्। अथ यदा सख्यादिपरिजनो वार्तां करोति श्रीनेमिना राजीमतीं परिहृत्य दीक्षा गृहीता तदाऽऽप्तवचनरूपेण प्रमाणेन त्यागं कुर्वन् लक्षितः । एतावता प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणैस्त्यागं कुर्वन् ज्ञायमानस्त्वं तादृग्दुःखं न दत्तवान्। अग्रेतनमाह—त्वं यावत् 'संस्कारेण

स्मृतिमुपगतः क्लेशदेष्टाऽसि' सम्स्कारः पूर्वानुभवः तेन यदा स्मर्यसे स्मृतेः संस्कारजत्वात् तदा यावत् क्लेशदेष्टा क्लेशदाताऽसि, वियोगो हि स्मर्यमाणः सन् पूर्वानुभवादपि गाढमन्तः शल्यवद्व्यथते, अत स्मरणस्य कथमप्रामाण्यम ? अन्यप्रमाणेभ्यस्तस्य गाढतरदुःखसम्यगनुभवसाधनत्वात्, अतः स्मरण प्रमाणम्, सम्यग्दुःखानुभवसाधनत्वात्, प्रत्यक्षादिवत् । क्लेशदेष्टेति "दिशींत् अतिसर्जने" दिश, क्लेशं दिशतीत्येवंशीलः "तृन शीलधर्मसाधुषु" (सि० ५–२–२१) तृन्प्रत्यय । अत्र हेतुपर्यायोक्त्यनुप्रासाद्याः ॥ ३१ ॥

> क्लेशाविष्टे प्रमुदितमतिर्दीर्घतृष्णे वितृष्णो
> मूढे मूढेतरपरिवृढस्तापिते निर्वृतात्मा ।
> व्यक्तं रक्ते वसति हृदये चेद्विरक्तो ममेशा–
> ऽऽधाराधेये तदुपचरिते केन भेदेतरेण ? ॥ ३२ ॥

हे नाथ ! 'तत्' तस्मात्कारणात् केन पुरुषेण आधाराधेये 'भेदेतरेण' अभेदेन उपचरिते ?, दक्षा उपचारेण आधाराधेययोरभेद मन्यन्ते, यथा—मञ्चाः क्रोशन्ति, अत्र मञ्चाना क्रोशन न सभवति अचेतनत्वात्, पर मञ्चोपविष्टाः पुरुषाः क्रोशन्ति, उपचारेण पुरुषैः सह मञ्चानामभेद विवक्ष्य मञ्चाः क्रोशन्तीत्युच्यते, राजीमती तद्दूषयति—यद् आधाराधेययोरुपचारेणापि अभेदो न युक्तः किन्तु भेद एव, कस्मात् ? तदाह—हे 'ईश' स्वामिन् ! 'चेत्' यदि त्व मम हृदये वससि, क्रमेण हृदयस्य भगवतश्च विशेषणैर्वैसदृश्यमाह—किंरूपे मम हृदये ? 'क्लेशाविष्टे' क्लेशैः दुःखैराविष्टे व्याप्ते । किंरूपस्त्वम्, 'प्रमुदितमतिः' प्रमुदिता प्रकर्षेण मुदिता हर्षमयी मतिः बुद्धिर्यस्य स. । पुनः कथभूते हृदये ? 'दीर्घतृष्णे' दीर्घा अत्यन्तप्रौढा तृष्णा विषयवाञ्छा यस्मिंस्तत् (तस्मिन्) त्वं तु 'वितृष्णः' विगता तृष्णा यस्यासौ, सर्वथाऽपि सांसारिकभोगादिवाञ्छाविरहितत्वात् । पुनः कथंभूते हृदये ?

'मूढे' कार्याकार्यज्ञानरहिते, त्व तु 'मूढेतरपरिवृढ·' मूढेभ्य इतरे अमूढा दक्षास्तेषा परिवृढ· स्वामी। पुनः किंरूपे हृदये? 'तापिते' विरहतापेन प्रज्वलिते त्व तु 'निर्वृतात्मा' सर्वदु·खविगमान्निर्वृतः शीतल आत्मा यस्य सः। पुनः किंविशिष्टे हृदये? 'रक्ते' कामरागव्याप्ते, त्व तु विरक्तः सामस्त्येन नीरागत्वात्। अतो मम हृदयमाधारः त्व तु आधेयः, हृदयस्य तव च सर्वप्रकारैः पार्थक्यमेवास्ति, अत उपचारेणापि आधाराधेययोरभेदो न युक्तः किन्तु भेद एव, एतावता निजहृदो बाढ वियोगदुःख ज्ञापितम्, भगवतश्च परिपूर्णसतोषसुखमयत्वम्। अत्र विषमपर्यायोक्त्याद्या.॥३२॥

गोत्रस्यादावशकलपुरे चावरं वर्णमग्र्यो-
ज्जाग्रद्वर्णामुपतदमपि त्वं तु नातिष्ठपो माम्।
शीलं यद्वोन्नतिमत इदं जात्यवर्णानपेक्षं
मेरुर्नाम्ना वहति शिरसा चैतमुन्नीलचूलः॥ ३३॥

हे नाथ! त्व 'गोत्रस्य' अन्वयस्य 'आदौ' धुरि 'अशकलपुरे च' अशकलपुर नगर तत्र च 'अवर वर्णं' चरम नीच वर्ण शूद्र वर्ण 'अतिष्ठप·' स्थापयसि स्म, 'तु' पुनर्मां 'उपतदमपि' तस्य गोत्रस्य पुरस्य च समीपे न अतिष्ठप·, किंविशिष्टा माम्? 'अग्र्योज्जाग्रद्वर्णा' अग्र्यः प्रधान. उत् प्राबल्येन जाग्रत् शोभमानो वर्णः क्षत्रियरूपो यस्याः सा ताम्, एषा तावद्युक्तिर्न यन्नीचो वर्णो वशस्य नगरस्य च धुरि विनिवेश्यते उत्तमवर्णश्च दूरे क्रियते। अथ मुख्योऽर्थः—त्व 'गोत्रस्य' नाम्न आदौ 'अवर' वर· प्रधानोऽवरः अप्रशस्यस्तमवरम् अप्रशस्य 'वर्णं' अक्षर नकारलक्षणमतिष्ठपः स्थापितवान्, तथाऽशकले समस्ते पुरे शरीरेऽवरम् अप्रशस्य वर्णं कृष्णलक्षण रूपं स्थापितवान्, तु पुनर्माम् उपतदमपि तस्य नाम्नः शरीरस्य च समीपे नातिष्ठपः न स्थापितवान्, एतावता नाम्नोऽक्षरैरपि सबन्धो न कृतः शरीरेणापि च सबन्धो न विहितः, किंरूपा माम्? 'अग्र्यो-

ज्जाग्रद्वर्णा' अग्र्याः प्रधाना उत् प्राबल्येन जाग्रतः शोभमाना वर्णा राजीरूपाः प्रशस्ता नाम्नि यस्याः, अथवा जाग्रद्वर्णो गौरनामा प्रशस्तः शरीरे यस्याः सा ताम् । 'यद्वा' अथवा 'उन्नतिमतः' औन्नत्यजुषः इदं शील सहजम्, किंरूपम् ? 'जात्यवर्णानपेक्ष' जात्य उत्तम वर्ण न अपेक्षते उत्तमवर्णापेक्षारहितमित्यर्थः । अत्र निदर्शनमाह—मेरुः नाम्ना शिरसा च 'एत' अवर वर्ण वहति, किंरूपो मेरुः ? 'उन्नीलचूलः' उत् ऊर्ध्वं नीला चूला यस्य सः, कोऽर्थः ? मेरुरपि औन्नत्यशाली वर्तते सोऽपि नाम्न आदौ मकारमप्रशस्त वर्णमक्षर शिरसा चाप्रशस्त चूलास्थित नील वर्ण वहति । उन्नतिः ऊर्ध्वप्रमाणगुरुता उत्कृष्टगुणगुरुता च, अतो महता चरित्र न विचार्यमेवेत्युपहासो व्यङ्ग्य. । अत्र विषमश्लेषार्थान्तरन्यासनिदर्शनानुप्रासाद्या. ॥ ३३ ॥

आसीदाशेत्यमम ! महिषी प्रीतये ते जनिष्ये
श्यामा क्षामा त्वकृषि विधिना प्रत्युतोषोत्प्रदोषा ।
पश्याम्येवं यदि पुनरजात्मत्वमप्यापयिष्ये
मूलात्कर्मप्रकृतिविकृतीः सर्वतोऽपि प्रकृत्य ॥ ३४ ॥

हे अमम ! मम इति आशा आसीत् अह 'ते' तव प्रीतये महिषी 'जनिष्ये' भविष्यामि । पूर्वं प्रसिद्धतिर्यग्भेदेनैव श्लेषमाह—ततो महिषी प्रसिद्धा तिर्यग्जातौ प्रत्युतेति पक्षान्तरे 'तु' पुनर् 'विधिना' दैवेन 'श्यामा' कृष्णा 'क्षामा' दुर्बला 'उषा' गौ· 'अकृषि' कृता, किंविशिष्टा उषा ? 'उत्प्रदोषा' उद्गताः प्रकृष्टा दोषा यस्याः सा । अथैव पश्यामि—'यदि पुनः' इति विकल्पान्तरे, अह विधिना 'अजात्मत्व' छागिकात्वमपि आपयिष्ये, दैव मा छागिकामपि करिष्यतीति भाव·, किं कृत्वा ? 'मूलात्' आदित 'सर्वतोऽपि' सर्वैः प्रकारैरपि 'कर्मप्रकृतिविकृतीः प्रकृत्य' प्रारभ्य कर्म वाहदोहादिक प्रकृतिः तिर्यक्स्वभावः विकृतिः अज्ञानमोहादिका विकारास्तान्, एतावता महिष्या गवि च याः कर्मप्रकृतिविकृतयोऽभवन्

अजात्वेऽपि ता एव मूलतः प्रारब्धाः । अथ मुख्यार्थः—हे अमम ! मम इति आशा आसीत् यदह 'ते' तव प्रीतये 'महिषी' कृताभिषेका राज्ञी 'जनिष्ये' भविष्यामि, 'तु' पुनरह 'विधिना' दैवेन 'श्यामा' अप्रसूता स्त्री अकृषि कृता, किंरूपा ? 'उषोत्प्रदोषा' उषावत् रात्रिवत् उत्प्रदोषा, रात्रिपक्षे उत् प्रबलः प्रदोषो मुख यस्याः सा "प्रदोषो यामिनीमुख" (अभि० २–५८) द्वितीयपक्षे पूर्ववदुद्गताः प्रबला दोषा मायादयो यस्या सा, अपुत्रा हि स्त्री उत्तमकार्येषु नाग्रे क्रियते । अथैव पश्यामि यदि पुनर् 'अजात्मत्वमपि' सिद्धस्वरूपभावमपि विधिना आपयिष्ये, विधिपरिणामो हि तादृग् दृश्यते यादृशाऽहं सिद्धस्वरूपमपि लप्स्ये भवता सर्वथा त्यागात् , निष्पतिसुताना वनिताना च व्रतकष्टानामेवोचितत्वेन सिद्धत्वोपलब्धेः । कि कृत्वा ? मूलात् आदितः कर्मप्रकृतिविकृतीः सर्वतोऽपि सर्वप्रकारैरपि प्रकृति १ स्थित्य २ नुभाग ३ प्रदेश ४–लक्षणैरपि प्रकृत्य प्रकर्षेण च्छित्त्वा । कर्मणा प्रकृतयो मुख्यभेदा अष्टौ ज्ञानावरण १ दर्शनावरण २ वेदनीय ३ मोहनीयाऽऽ४ यु ५–र्नाम ६ गोत्रा ७ ऽन्तरायाऽ८ भिधा. । विकृतयस्तु भेदानामपि भेदाः क्रमेण पञ्च–नव–द्व्य–ष्टाविंशति–चतु–स्त्र्युत्तरशत–द्वि–पञ्चसङ्ख्याः । प्रकृत्येति पूर्वं कृग्धातो. प्रयोग. प्रोपसर्गः प्रारम्भार्थः, द्वितीयपक्षे "कृतैत् छेदने" इति धातुः । अत्र श्लेषातिशयोक्तिभाविकानुप्रासाद्याः । तत्र "प्रत्यक्षा इव यद्भावाः, क्रियन्ते भूतभाविन' । तद्भाविकम्" ॥ ३४ ॥

> यावज्जीवं मदुपहितहृज्जीवितेनः शयेन
> प्रेम्णा पास्यत्यमृतमपि मे विघ्नमासीत्पुरेति ।
> प्रव्रज्यायाः पुनरभिलषंस्तन्मुखेनामुचन्मां
> ज्ञानश्रीयुक् तदथ कमितोन्मुच्य तां तन्नमोऽस्तु ॥३५॥

हे नाथ ! मया इति 'पुरा' पूर्वं 'विघ्न' विचारितमासीत्,

इतीति किम्? 'जीवितेनः' प्राणनाथो यावज्जीव 'प्रेम्णा' स्नेहेन 'अमृतमपि' पानीयमपि मम 'शयेन' हस्तेन पास्यति, किंविशिष्टः? 'मदुपहितहृत्' मयि उपहित न्यस्तं हृत् हृदय येनासौ। पुनः 'प्रव्रज्याया.' दीक्षाया मुखेन 'तत्' अमृतम् अभिलषन् सन् माम् अमुचत्, अमृत स्यादयाचितम्, दीक्षाधारिणो हि अयाचितव्रता भवन्ति। 'अथ' अनन्तर त्व 'ज्ञानश्रीयुक्' ज्ञानलक्ष्मीयुक्तः सन् 'ता' दीक्षामुन्मुच्य 'तत्' अमृत कमिता अमृत मोक्ष कमिता अभिलषिष्यसि (पिता), अथो दीक्षाया' फल मोक्ष कामयिष्यसे इत्यर्थः। यद्यपि "मोक्षे भवे च सर्वत्र, नि.स्पृहो मुनिसत्तमः" इति वचनात् भगवतो मोक्ष प्रत्यपि कामो नास्ति नथापि मोक्ष प्रति प्रवृत्तत्वात्तत्कामो विवक्षितः। 'तत्' तस्मात्कारणात् ते तुभ्य नमोऽस्तु, अत्रेर्ष्याया नमः, ईर्ष्याऽपि अनवस्थितत्वाभासज्ञापनात्। अत्र यथासङ्ख्यभाविकपर्यायोक्तदीपकव्याजस्तुतिश्लेषाद्याः। अमृतं पानीयमयाचितव्रतं मोक्षश्चेति श्लेषमूलम्॥ ३५॥

काष्र्ण्योत्पादात्स्वजनवदनेऽतानि वर्णस्य तुल्यं
कृत्यं चाशाव्रततिनिकरोत्कर्तनान्नाथ! नाम्नः।
अर्थादर्थान्तरमभियता द्राग्यथा चान्वयस्था-
सत्कर्मेभप्रमथसमये कारि मा मातुरित्थम्॥ ३६॥

हे नाथ! त्वया स्वजनवदने कार्ष्ण्योत्पादात् वर्णस्य तुल्य कृत्यमतानि, कृष्णस्य भावः कार्ष्ण्यं कालिमा स्वजनमुखे तद् उत्पादयता यादृशो निजो वर्ण. शरीरसत्कः कृष्णरूपस्तस्य 'तुल्य' समान 'कृत्य' कार्य अतानि विस्तारयामासे, एतावता स्वजनमुखानि दुःखेन कृष्णवर्णानि कृतानीत्यर्थः। 'च' अन्यत् हे नाथ! यथा त्वया आशाव्रततिनिकरोत्कर्त्तनात् नाम्नस्तुल्य कृत्यमतानि। अत्र सदेशकथनप्रसक्तत्वात् राजीमती स्वाः एवाशाः विवक्षते, अह नाथ परिणेष्यामि भोगान् भोक्ष्ये पट्टराज्ञी भविष्यामि इति आशा वा-

र्छास्ता एव व्रतत्यो वल्लयस्तासां निकरः समूहस्तस्योत्कर्त्तन छेदन तस्मात् नाम्नस्तुल्यं नाम अरिष्टनेमिस्तस्य तुल्य कार्यमकारि, एतावता यथा चक्रधारा वल्लीश्छिनत्ति तथा त्वया ममाशाश्छिन्नाः। तथा यथा च त्वया 'द्राक्' शीघ्रं 'अर्थात्' कार्यात् 'अर्थान्तर' कार्यान्तर 'अभियता' गच्छता 'अन्वयस्य' वशस्य तुल्य कृत्यमतानि, कोऽर्थः ? परमेश्वरस्य वंशो हरिवंशस्ततो हरिशब्दस्य बह्वर्थेष्वपि प्रवृत्तस्यार्थानुलोम्यात् कपिं विवक्ष्य कथयति— यथा हरिः कपिः एक कार्यं तरुशाखाचटनादिरूपमर्धकृतमेव मुक्त्वा चापल्यतो झटिति अन्यतरुचटनादिकार्यं प्रारभते तथा त्वमपि मद्विवाहकार्यमर्धकृतमेव मुक्त्वा सयमरूप कार्यान्तर झटिति प्रतिपन्नवान्। हे नाथ ! यथा निजवर्णनामवशसदृशानि कार्याणि कृतानि इत्थं त्वया असत्कर्मेभप्रमथसमये मातुस्तुल्य कृत्य मा कारि, अय भावः—परमेश्वरस्य माता शिवा, शिवाशब्देन शृगाली कथ्यते, ततो यथा शृगाली गजान् दृष्ट्वैव पलायते तत्पराजयकथा दूरेऽस्तु, एवं त्वमपि असत्कर्माणि दुष्कर्माणि तान्येव इभा हस्तिनस्तेषा प्रमथो विनाशस्तस्य समये प्रस्तावे मातुस्तुल्य कृत्यं मा कारीति शिवावन्न नष्टव्यम्। यदि दीक्षा गृहीता तदा दुष्कर्मकरीन्द्रदलनावसरे शिवासुतवद्भीरुणा न भाव्य किन्तु सिंहीपुत्रेणेव धीरेण भाव्यम्, सिंहपराक्रमेण चारित्र प्रतिपाल्यमित्यर्थः, इति सर्ववाचिकान्ते परिणामसुन्दरवाचिक बाढ दीर्घदर्शित्व व्यनक्ति। अत्र कार्ष्ण्येति कृष्णस्य भावः कार्ष्ण्यम् "पतिराजान्तगुणाङ्गराजादिभ्यः कर्मणि च" (सि० ७–१–६०) घ्यण्प्रत्ययः, य इति। अत्र समुच्चयदीपकश्लेषपर्यायोक्त्यर्थान्तरन्यासाद्याः ॥ ३६ ॥

एवं नानावचनरचनाचातुरीमेकतोऽस्या
निश्चैतन्याम्बुदमुखगिरा चान्यतो दूतकर्म।
राजीमत्या व्यवसितमिति प्रेक्ष्य सख्यस्तदानीं
धिग्धिग्दैवं गतघृणमिति ध्यातवत्योऽभ्यधुस्ताम्॥३७॥

'तदानीं' तस्मिन् प्रस्तावे सख्यस्ता 'अभ्यधुः' जल्पन्ति स्म, सख्यः किं कृतवत्यः ? 'गतघृण' निर्दय दैव धिग्धिग् इति 'ध्यातवत्यः' पूर्वं ध्यात यामिस्ता·, किं कृत्वा ? एकतः अस्याः राजीमत्याः 'एव' अमुना प्रकारेण 'नानावचनरचनाचातुरीं' नानाप्रकारैः अलङ्कारव्यङ्ग्यरसावताररूपैः या वचनाना रचना तस्याश्चातुरीं चातुर्यं प्रेक्ष्य मनसा विचार्य,'च' अन्यत् 'अन्यत.' अन्यस्मिन् पक्षे 'निश्चैतन्याम्बुदमुखगिरा' निश्चैतन्यो अचेतनो योऽम्बुदो मेघस्तस्य मुखगिरा मुखवचनेन 'इति' एवप्रकार विरहभावोद्दीपकसदेशश्रेणिगर्भं दूतकर्म 'व्यवसित' निश्चित 'प्रेक्ष्य' दृष्ट्वा, एतावता सख्यो राजीमत्यास्तत्तादृश वचनचातुर्यमचेतनमेघमुखेन दूतकर्म चेति परस्परविरुद्ध प्रेक्ष्य हा ! निर्दयेन दैवेन राजीमत्या. कीदृशी अवस्थाऽऽपातितेति ध्यायन्त्यस्ता प्रति इति वक्ष्यमाणमजल्पन्नित्यर्थः । अत्र चतुरस्य भाव कर्म वा चातुरी "युवादेरण्" (सि० ७–१–१६७) अण्प्रत्यय. । अत्रानुप्रासविषमजात्याद्या ॥ ३७ ॥

क्वासौ नेमिर्विषयविमुखस्तत्सुखेच्छुः क्व वा त्वं
क्वासंज्ञोऽब्दः क्व पटुवचनैर्वाचिकं वाचनीयम् ।
किं कस्याग्रे कथयसि सखि ! प्राज्ञचूडामणेर्वा
नो दोषस्ते प्रकृतिविकृतेर्मोह एवात्र मूलम् ॥ ३८ ॥

हे सखि ! असौ नेमिः क्व ?, किंरूपो नेमिः ? 'विषयविमुखः' विषयेषु विमुखः पराङ्मुख·, वा इति अन्वाचये, त्वं क्व ?, कथंभूता त्वम् ? 'तत्सुखेच्छुः' तद् विषयसुखमिच्छतीति तत्सुखेच्छु·, अतो द्वयोरपि युवयोर्विपरीतस्वरूपयोः कः सबन्धः ? । 'असज्ञः' अचेतनः 'अब्दः' मेघः क्व ?, 'वाचिक' संदेशवाक्य क्व ?, अनयोरपि सम्बन्धाभावः, किंभूत वाचिकम् ? 'पटुवचनैर्वाचनीय' पटूनि पटिष्ठानि वचनानि येषामेवंविधैः पुरुषैर्वाचनीय कथनीयम् । हे सखि ! कस्याग्रे किं कथयसि ?, एतावता दृक्षाऽपि सती त्व

निरर्थकं जल्पसीति । पुनरपि सख्य एव तत्समर्थनमाहुः—'वा' अथवा 'ते' तव नो दोषः, कथभूतायास्ते ? 'प्राज्ञचूडामणेः' प्राज्ञाना दक्षाणा चूडामणेः शिरोमणेः । 'अत्र' त्वदधिकारे 'प्रकृतिविकृतेः' स्वभावपरावर्तस्य मोह एव मूलम्, अतो मोहस्यैव दोषः । अत्र विषमार्थान्तरन्यासानुप्रासाः ॥ ३८ ॥

श्रीमान्नेमिर्व्यजयत महामोहमल्लं तदेष
त्वां तत्पत्नीं सखि ! मनुमहे बाधते बद्धवैरः ।
किं त्वेव ते यदुकुलमणेर्वीरपत्न्या विसोढुं
नैतन्न्याय्यं तदिममधुना बोधशस्त्रेण हिन्द्धि ॥ ३९ ॥

श्रीमान्नेमिर्महामोहमल्लं 'व्यजयत' जितवान्, हे सखि ! वयमिति 'मनुमहे' जानीमः 'तत्' तस्मात्कारणात् 'एषः' महामोहमल्लः 'तत्पत्नीं' तस्य नेमिनः पत्नीं त्वां 'बाधते' पीडयति, किंरूप एषः ? 'बद्धवैरः' सलग्नविरोधः, अयमर्थः—श्रीनेमिना मोहमहामल्लो जितः, स तस्य पीडां कर्तुं न प्रभवति अतस्तद्वैरं वालयितुं तत्पत्नीं बाधत इति । 'किन्तु' पुनः 'एव' अमुना प्रकारेण 'ते' तव वीरपत्न्या 'एतत्' तस्य पीडनं 'विसोढुं' मर्षितुं 'न न्याय्यं' न युक्तम्, किंरूपायास्ते ? 'यदुकुलमणेः' यदुकुलस्य मणेः रत्नरूपायाः । 'तत्' तस्मात्कारणात् त्वमधुना 'इमं' महामोहमल्लं 'बोधशस्त्रेण' प्रतिबोधायुधेन 'हिन्द्धि' व्यापादय, त्वमपि वीरपत्नी वर्तसे अतः शत्रुपराभवस्तवापि सोढुं न युक्तः, ततः प्रतिबोधं हृदि निधाय महामोहस्त्वयाज्यतामित्यर्थः । व्यजयतेति "परावेर्जेः" (सि० ३—३—२८) इत्यात्मनेपदम् । हिन्द्धीति "हिंसु तृहप् हिंसायाम्" हिंस्, पञ्चमी हि, "उदितः स्वरान्नोन्तः" (सि० ४—४—९८) "रुधां स्वराच्छ्नो न लुक् च" (सि० ३—४—८२) श्नप्रत्ययः, न, पूर्वनलोपः, "श्नास्त्योर्लुक्" (सि० ४—२—९०) श्नस्याकारलोपः, "हुधुटो हेर्धिः" (सि० ४—२—८३) हि धिः "लवर्णतवर्गलसा

दन्त्याः" इति न्यायात् "तृतीयस्तृतीयचतुर्थे" (सि० १-३-४९) स् त्, ततः सयोगः, "श्रा धुड्वर्गेऽन्त्योऽपदान्ते" (सि० १-३-३९) तन इति सिद्धम् । अत्रानुमानाक्षेपोदात्तरूपकाद्याः ॥ ३९॥

रागाम्भोधौ ललितललनाचाटुवाग्भङ्गिभिर्यः
संप्लाव्येत प्रतनुगरिमा स क्षमाभृद्गणोऽन्यः ।
औन्नत्यं तत्तदचलगुरुश्चैष माध्यस्थ्यमीशो
धत्ते येन स्फुटवसुममुं स्प्रष्टुमप्यक्षमास्ताः ॥ ४० ॥

हे सखि ! स 'क्षमाभृद्गण' क्षमाभृता ऋषीणा गणः समूहोऽन्य· यो 'रागाम्भोधौ' रागसमुद्रे 'ललितललनाचाटुवाग्भङ्गिभिः सप्लाव्येत' ललिता· सुकोमला ललनाना स्त्रीणा याश्चाटुरूपा वाचस्ता एव भङ्गय· कल्लोलास्तै· (ताभि·) स सामस्त्येन प्लाव्येत स क्षमाभृद्गणोऽन्य· पर·, किरूप· ? 'प्रतनुगरिमा' प्रतनुः तुच्छः गरिमा गुरुत्व यस्य सः, एतावता यः साधुगणः स्त्रीणा चाटुवचनैर्भिद्यते स तुच्छधर्मस्थैर्यादिगुणगौरववान्, अय नेमिस्तन्मध्ये न भवतीत्यर्थः । अथ सख्योऽन्यतुच्छसाधुविलक्षण भगवतः स्वरूपमाहु —'च' अन्यत एषः 'ईश.' स्वामी ततः सर्वलोकप्रसिद्ध 'औन्नत्य' परमध्यानधैर्यादिगुणोच्छ्रितत्व तत् 'माध्यस्थ्य' च रागद्वेषरहितत्व धत्ते। किरूपो भगवान् ? 'अचलगुरु.' अचला ये ब्रह्मव्रतादिपालने धीरास्तेषा गुरुः । 'येन' औन्नत्येन माध्यस्थ्येन च 'ताः' ललितललनाचाटुवाग्भङ्गय· 'अमु' भगवन्त स्प्रष्टुमपि 'अक्षमाः' असमर्थाः, एतावता ताभिर्भेदनमस्य दूरेऽस्तु ता· स्त्रीचाटुवाचो मनस्यपि नायान्तीत्यर्थः । किंविशिष्टममुम् ? 'स्फुटवसु' स्फुटतेजसम् । अथ द्वितीयः श्लिष्टोऽर्थः—यः क्षमाभृतां पर्वताना गणः समूहः समुद्रकल्लोलैराप्लाव्यते आव्रियते स प्रतनुगरिमा तुच्छोन्नतत्वः अन्य., यस्य शिखरोपरि कल्लोला वहित्वा यान्ति सोऽन्य इतरः, एष भगवान् 'अचलगुरुः, अचलानां पर्वताना गुरुः मेरुः,

ततो यथा मेरुः उन्नतत्व उच्चैस्तरत्व तत्र माध्यस्थ्य जगन्मध्यस्थत्व धत्ते, 'येन' औन्नत्येन माध्यस्थ्येन च ते समुद्रकल्लोलाः 'अमु' मेरु स्प्रष्टुमपि 'अक्षमाः' असमर्थाः, कल्लोला उत्कृष्टतोऽपि समभूतलान् षोडश(योजन)सहस्रोच्चाः मेरुस्तु लक्षयोजनोच्चः, वीचयस्तु जगतीपार्श्ववर्तिनः, मेरुस्तु लोकमध्यस्थः, अतस्ता आसन्ना अपि भवितु न क्षमन्ते इत्यर्थः । मेरुपक्षे स्फुटानि प्रकटानि वसूनि रत्नानि यत्रासौ स्फुटवसुस्तम् । अत्र श्लेषसमासोक्तिरूपकातिशयोक्त्युदात्तानुप्रासाः ॥ ४० ॥

मा विश्वस्या मतिमति! वरप्राक्पदा वर्णिनीं तां
रागोत्सृष्टानुपलशकलान् रञ्जयन्तीं निरीक्ष्य ।
चूर्णो नाम्ना स खलु भगवानेष जात्यं तु वज्रं
नो रागाङ्गैरविकलबलै रज्यते जातु कैश्चित् ॥ ४१ ॥

'हे मतिमति' ! मतिः बुद्धिर्विद्यते यस्याः सा मतिमती तस्याः सबोधन हे मतिमति ! हे बुद्धिशालिनि ! त्व ता 'वरप्राक्पदा वर्णिनीं' वर इति प्राक् पूर्व पद यस्याः सा ताम्, एतावता वरवर्णिनीं हरिद्रा 'रागोत्सृष्टान्' रागरहितान् 'उपलशकलान्' पाषाणखण्डान् रञ्जयन्तीं निरीक्ष्य 'मा विश्वस्याः' विश्वास मा कृथाः, कोऽर्थः ? सख्यः कथयन्त्यः सन्ति—हे राजीमति ! तव मनस्येव भविष्यति, यथाऽन्याऽपि वरवर्णिनी रागरहितान् पाषाणखण्डान् रञ्जयति तथाऽहमपि वरवर्णिनी वर्ते, वरा प्रधाना वर्णिनी स्त्री अतो नीरागमपि नेमिन रञ्जयिष्यामीति विश्वास मा कृथाः । कुतः ? तत्कारणमाहुः—'खलु' निश्चित 'सः' उपलशकलः पाषाणखण्डो नाम्ना चूर्णः यः पूर्वमपि चूर्ण (र्णः) तस्य किं नाम बलम् ? न किञ्चिदित्यर्थः, 'तु' पुनरेष भगवान् जात्य 'वज्रं' निष्कृत्रिमहीरक., अतः कैश्चित् 'रागाङ्गैः' रागभावै. 'जातु' कदाचित् नो 'रज्यते' रागवान् क्रियते, किंरूपै रागाङ्गैः ? 'अविकलबलैः' अविकल सपूर्ण

बल येषा तानि तैः, एतावताऽसौ सर्वत्रोक्तिरचितैरपि हावभावस्निग्धवचनादिरागप्रकारै रञ्जयितु नैव शक्यत इत्यर्थ । यथाऽन्योऽपि हीरकः परपाषाणखण्डवत् रागाङ्गैर्हरिद्रादिभिः प्रचुरैरपि रञ्जयितु न शक्यते । अत्र श्लेषसमासोक्तिउपमारूपकानुप्रासाद्याः ॥ ४१ ॥

सध्रीचीनां वचनरचनामेवमाकर्ण्य साऽथो
पत्युर्ध्यानादवहितमतिस्तन्मयत्वं तथाऽऽपत् ।
सङ्ख्याताहैरधिगतमहानन्दसर्वस्वसद्मा
तस्माद्भेजेऽनुपमिति यथा शाश्वती सौख्यलक्ष्मीम् ॥४२॥

'अथो' अनन्तर सा 'सध्रीचीना' सखीना एव वचनरचनाम् 'आकर्ण्य' श्रुत्वा तथा तन्मयत्व 'आपत्' प्राप्ता । किंरूपा सा ? पत्युः ध्यानात् 'अवहितमतिः' अवहिता सावधाना मतिर्यस्याः साऽवहितमतिः । एतावता पिण्डार्थः—राजीमती सखीना वचन श्रुत्वा शोक त्यक्त्वा प्रभोः केवलज्ञानोत्पत्तौ सत्या स्वामिपार्श्वे व्रत गृहीत्वा तथा स्वामिनो ध्यानात् 'तन्मयत्व' स्वामिमयत्वम्, एतावता यथा स्वामी रागद्वेषरहितस्तथा रागद्वेषरहितत्वमापत्, सर्वोऽपि क्रमः परिणामे फलेन श्लाघ्यते, अतः सर्वोत्कृष्टस्य तन्मयत्वस्य फलमाह—'सङ्ख्या०' इति 'यथा' येन प्रकारेण 'तस्मात्' तन्मयत्वात् 'अनुपमिति' उपमानस्याभावो यथा भवति तथा 'शाश्वतीं' अविनश्वरा सौख्यलक्ष्मीं भेजे, किंविशिष्टा सा ? 'सङ्ख्याताहैः' गणितदिनैः 'अधिगतमहानन्दसर्वस्वसद्मा' अधिगत प्राप्त महानन्दः परमानन्दस्तस्य सर्वस्व सर्वसमृद्धिस्तस्य सद्म स्थान, मोक्षाभिधान यया साऽधिगतमहानन्दसर्वस्वसद्मा, अयमर्थः—राजीमती चारित्रं प्रतिपालयन्ती एक वर्ष छद्मस्थपर्याय स्थित्वा रागद्वेषमयानि घातिकर्माणि क्षपयित्वा केवलज्ञान प्राप्य पञ्च वर्षशतानि केवलिपर्याये विहृत्य मुक्तिपदं प्राप्ता सती शाश्वतसौख्य भजते स्म । अत्र सङ्ख्याताहैरिति सङ्ख्यातानि अहानि सङ्ख्याताहास्तैः "सङ्ख्यातादहश्च वा"

(सि० ७–३–११७) अट्प्रत्यय, "नोऽपदस्य तद्धिते" (सि० ७–४–६१) अनलोपः। अधिगतेति "ताभ्या वाप् डित्" (सि० २–४–१५) डाप्प्रत्यय.। उपमितेः उपमानस्याभावोऽनुपमितीति "विभक्तिसमीप०" (सि० ३–१–३९) इति अव्ययीभावः समासः। अत्र शाश्वतसौख्यलक्ष्मीरूपकार्यस्य तन्मयत्वकारण योगेन सुकरत्वात्समाधिरलङ्कारोऽतिशयोक्त्यनुप्राससङ्कराश्च ॥४२॥

इत्याचार्यश्रीशीलरत्नसूरिविरचिताया श्रीजैनमेघदूतमहाकाव्यटीकाया चतुर्थ सर्ग समाप्त। तत्समाप्तौ समाप्ता चेय टीका॥



[अथ प्रशस्तिः]

तथा च—

सर्वव्याकरणप्रमाणपटवो न्यायस्फुरत्कर्किका—
　　निष्णाता गुरवोऽभवन्न तु कृतिस्तेषा हि मिथ्या भवेत् ।
एष प्रत्यय एव मेऽस्ति सुचिर तेषा पदाब्जद्वयी—
　　सेवातो बहुलप्रयोगरचनास्पष्टोपयोगस्पृशाम् ॥ १ ॥
अन्येषा मतिमूढतापहृतये व्याख्यामधीता मुखात्
　　तेषामेव तथा विचार्य विबुधैः सार्ध प्रयत्नेन च ।
स्पष्टार्था लिखिता व्यधीयत परावर्तैः प्रयोगेषु यत्
　　क्वापि क्वापि तदस्तु मा गुरुवचश्चर्चाव्यलीक मम ॥ २ ॥
व्याख्याऽलेखि मया मृषाऽत्र खलु या शोध्यैव सा सद्बुधै—
　　र्व्यङ्ग्यानि प्रकटीकृतान्यनुरद गूढानि नो यान्यपि ।
ज्ञेयानि स्वयमेव तान्यनलसैः स्पष्ट परेषामपि
　　ज्ञाप्यानि प्रकटोपकारकृतये प्राप्तावतारैर्भुवि ॥ ३ ॥
वर्षे चन्द्रनिधानपूर्वकलिते १४९१ श्रीविक्रमार्कात्तथा
　　चैत्रान्तर्वदिपञ्चमीबुधदिने श्रेष्ठाऽनुराधायुते ।
श्रीजैनोज्वल**मेघदूत**सुबृहत्काव्यस्य पूर्णाऽभवत्
　　टीका श्री**अणहिल्लपाटक** इति ख्याते क्षितौ **पत्तने** ॥४॥
पूज्यश्रीगुरु**मेरुतुङ्ग**गणभृद्धुर्यैर्व्रत लम्भितः
　　श्रीमच्छ्री**जयकीर्त्ति**सूरिगुरुभिस्तत्पट्टलब्धोदयैः ।
वात्सल्यात्परिपाठितश्च कृतवान् श्रीकाव्यटीकामिमा—
　　माचार्यः किल **शीलरत्न** उदिता स्वाल्पिष्ठबुद्धेर्मिताम् ॥५॥
एतस्याः किल वृत्तेः, श्रीमन्**माणिक्यसुन्दरा**चार्याः ।
विदधुः शोधनमवहित—मतयो बहुसमयतत्त्वज्ञाः ॥ ६ ॥